ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

संक्षिप्त जैन इतिहास।

(भाग ३–खंड ५)

[विजयनगर साम्राज्यका इतिहास व जैनधर्म]

लेखक:—

श्री० बाबू कामताप्रसादजी जैन, D L., M.R A.S.

ऑनरेरी सम्पादक "वीर" व "जैनसिद्धान्त भास्कर"

ऑनरेरी मजिस्ट्रेट और असिस्टेन्ट कलेक्टर तथा

अनेक ऐतिहासिक जैन ग्रन्थोंके रचयिता

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

मालिक, दिगम्बर जैन पुस्तकालय—सूरत।

"दिगम्बर जैन" पत्रके ३१ वें वर्षके ग्राहकोंको
स्व० श्री सविताबाई मूलचन्द कापड़िया
सूरतके स्मरणार्थ भेंट।

प्रथमावृत्ति] वीर सं २४७१ [प्रति ७००

मूल्य—डेढ़ रुपया।

७–सं० जैन इतिहास (ती० भाग प्रथम खंड) .. १।)
८–प्राचीन जैन इतिहास ३रा भाग (मूलचन्द वत्सल कृत) १)
९–सं० जैन इतिहास (ती० भाग ती० खंड) १।)
१०–आदर्श जैन चर्या (बा० कामताप्रसादजी) . ।–)
११–जैन शतक सार्थ (भूधरकृत व अनुवादक प० रवतमजी) ।।।)

और यह १२ वां ग्रन्थ संक्षिप्त जैन इतिहास भा० ३ खंड पांचवां पाठकोंके सामने है जो 'दिगम्बर जैन' के ४३ वें वर्षके ग्राहकोंको भेंट दिया जा रहा है तथा इसकी कुछ प्रतियां विक्रयार्थ भी निकाली गई हैं।

इस ऐतिहासिक ग्रन्थके लेखक श्री बा० कामताप्रसादजी जैन (अलीगंज) ने इस भागमें ७०० वर्षके पहलेका अर्थात् सन् १३००–१४०० के समयका श्री विजयनगर (दक्षिण) साम्राज्य जिसमें कई जैन राजा भी होगये हैं उनका इतिहास २८ अंग्रेजी व हिन्दी ग्रन्थोंसे संकलन किया है जो कार्य अतीव कठिन है और आप ऐसा कार्य ऑनररी तौरसे ही वर्षोंसे कर रहे हैं अतः आपकी यह सेवा अतीव धन्यवादके पात्र व अनुकरणीय है।

जैन समाजमें दान तो बहुत होता है लेकिन उसमें विद्यादान व शास्त्रदानकी विशेष आवश्यकता है अतः दान करनेकी दिशा–बदलनेकी आवश्यकता है अतः दानकी रकमका उपयोग विद्यादान तथा इस प्रकारकी ग्रंथमाला निकालकर ही स्थायी शास्त्रदानकी ही व्यवस्था करनी चाहिये। आशा है हमारे पाठक इस निवेदनपर ध्यान देवेंगे।

निवेदक—

सूरत–वीर सं० २४७६
वैशाख सुदी ५
ता० २२–४–५०

मूलचंद किसनदास कापड़िया,
—प्रकाशक।

अध्यक्ष जैन सिद्धांतभवन, आरा और प्रोफेसर विलास ए. संघवे बम्बाईके आभारी हैं कि जिन्होंने आवश्यक साहित्यिक पुस्तकें भेजनेकी कृपा की थीं।

हमारे मित्र श्री० मूलचन्द किसनदास कापड़ियाजी इस खंडको भी पूर्ववत् प्रकाशित करके " दिगम्बर जैन " के ग्राहकोंको उपहारमें रहे हैं और इस प्रकार इसका सहज प्रचार कर रहे है। एतदर्थ हम उनके आभारको भी नहीं भुला सकते।

विनीत—

अलीगंज (एटा)
दिनांक १२–४–५०

कामताप्रसाद जैन।

विषय-सूची।

संकेताक्षर सूची।

निम्नलिखित संकेताक्षरोंमें फुटनोटों द्वारा प्रमाणग्रन्थोंका उल्लेख सक्षेप-अक्षर किया गया है। पाठक उन्हें समझलें—

१ ASM आसम=आर्केऑलॉजिकल सर्वे ऑफ मैसूर (एनुअल रिपोर्ट १९२९, ३०, ३१ से ३६), बंगलोर।
२ इका०=इपीग्रैफिका कर्णाटिका Epigraphia Carnatica.
३ इहिक्वा०=इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता।
४ ओग्रा०=ओझा अभिनन्दन ग्रंथ (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)।
५ कोपण०=दी कन्नड इंस्क्रिप्शन्स ऑव कोपबल, कृष्णम्, चारलू (निजाम)
६ जबिओरिसो०=जर्नल ऑव दी बिहार ऐण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना।
७ जमीसि०=जरनल ऑव दी मीथिक सोसाइटी, बंगलोर।
८ J A. जैए०=जैन एण्टीक्वेरी (त्रैमासिक पत्र), आरा।
९ जैक०—जैनिज्म एण्ड कर्णाटक कल्चर, शर्मा १९४० (धारवाड़)
१० जैकक०=कर्णाटक जैन कवि (प्रेमीजी)
११. जैसिभा०=जैन सिद्धान्त भास्कर।
१२. जैशिसं०=जैन शिलालेख संग्रह (माणिकचन्द्र ग्रंथमाला बम्बई) सं० प्रा० हीरालालजी।
१३ दक्षिण०=दक्षिण भारत, जैन व जैन धर्म, बा० भु० पाटील वकील, सांगली।
१४ प्रेमा०=प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ (श्री यशपाल जैन टीकमगढ १९४६)
१५ बग०=बम्बई गेजेटियर (Gazeteer of the Bombay Press), Campbell, (1896)
१६. बप्राजैस्मा०=बम्बई प्रान्तीय जैन स्मारक (सूरत) सं० ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी।

कायल नहीं थे—जाति और कुल लोकव्यवहारकी चीज है । उसे लौकिक जीवनकी सुविधाके लिये वहीं तक मानना ठीक है, जहां तक अहिंसा-धर्मकी विराधना न हो । जाति और कुलको लेकर यदि मानव मानवमें उच्च नीचका भेद डाले तो वह बुरा है । जिनेन्द्रने उसे जातिमद और कुल मद कहा है और मद्यकी तरह उसको त्याज्य बताया है । जैनशासनमें जैन कुल ही खास चीज है—उस जैन कुलमें सभी अहिंसोपजीवी मानव सम्मिलित होते आये हैं । भूमिगोचरी आर्य, द्राविड़, असुर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और विद्याधर राक्षस, वानर आदि सभी वर्गोंके मानव जिनेन्द्रके भक्त जैनी रहे हैं । वास्तवमें जैन उस सज्जनका द्योतक है जो अहिंसा धर्मका हिमायती और उसपर चलनेवाला है । ऐसा जैन विश्वशान्तिका रक्षक और मानवके आत्मविकासका सूचक रहा है । अतएव जैनसे मतलब उस महा मानवसे है जिसका कुटुम्ब विश्व है और विश्वमें जिसका शासन चला है । जैन पुराणोंमें विश्वव्यापी जैन शासनका इतिहास सुरक्षित है । उनमें मानवीय सभ्य जीवनके विकाशका इतिहास छुपा हुआ है । धार्मिकताके अञ्चलसे बाहर निकाल कर उसे प्रकाशमें लानेकी आवश्यकता है । 'संक्षिप्त जैन इतिहास' के प्रथम भागमें हमने उसकी विहगम रूपरेखा उपस्थित की थी, किंतु जैन पुराणोंका तो सूक्ष्म अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टिसे होना आवश्यक है ।

प्रारम्भिक इतिहास ।

जैन पुराणोंमें मानवका आदि इतिहास, जिसे आजकल प्राक् ऐतिहासिक काल कहते हैं उसका इतिहास ओतप्रोत है । इस प्रकार-

इसी कारण वह ब्रह्मा आदि भी कहलाते थे। इन्द्रने उनके लिये अयोध्याको बहुत ही सुन्दर बसाया था। ऋषभदेवने ही भारतवर्षमें राज्य व्यवस्था स्थापित की थी और इस क्षेत्रको विभिन्न देशोंमें बांट दिया था, जिनपर ऋषभदेवके पुत्र और पौत्र एवं अन्य सम्बन्धी राज शासन करते थे। ऋषभदेवने ही इस कल्पकालके आदिमें धर्मतीर्थकी स्थापना की थी। वह दिगम्बर भेषमें अरण्यवासी साधु हो गये थे। देखादेखी यह तो साधु हो गये, परन्तु त्यागमई जीवनकी साधनामें यह असफल रहे। ऋषभदेव तो छै महीनेका योग माढ़कर बैठ गये। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मीकी उनको परवाह नहीं थी। पर उनके साथ साधुगण भूख प्यास और सर्दी गर्मीको बरदाश्त न कर सके। इनमेंसे कुछने कपड़े पहन लिये, कुछने वृक्षवल्कलसे तन ढक लिया और कुछ नंगे ही रहे और वे सब वनफलों और कदमूलोंसे अपनी उदरपूर्ति करने लगे।

ऋषभदेवका पौत्र और सम्राट् भरतका पुत्र मरीचि उनका अगुआ बना और उसने एक ऐसे दर्शन शास्त्रकी स्थापना की जिसका सादृश्य सांख्यसे था। ऋषभदेवने साधना और योगनिष्ठाकी परिपूर्णताका फल कैवल्य विभूतिमें पाया। कायोत्सर्ग मुद्रामें ध्यानलीन रहकर उन्होंने आत्मस्वरूप घातक कर्म वर्गणाओंका नाश किया और सर्वज्ञ सर्वदर्शी जीवन्मुक्त परमात्माका परमपद प्राप्त किया था। वह पहले तीर्थंकर हुये, क्योंकि उन्होंने ही पहले पहले धर्मतीर्थकी स्थापना की थी। ऋषभदेव 'जिनेन्द्र' कहे गये थे, इसलिये उनका मत "जैन" कहलाया था। वह 'दिगम्बर' थे, इसलिये परमहंस 'अचेलक

मत' अथवा 'निर्ग्रन्थ मत' के संस्थापक भी कहे गये और चूंकि उन्होंने स्वयं सर्वोत्कृष्ट आचरण किया था और लोकको पुनः जीवन बिताना सिखाया था इसलिये वह स्वयं महापुरुष और उनका मत 'अर्हत' कहलाया था। जैनधर्मको 'आर्हत् मत' ऋषभदेवके 'अर्हत्' विशेषणके कारण कहा गया था क्योंकि वह सर्वमान्य थे और कर्म-अरिको उन्होंने नाश किया था। जैनधर्मकी स्थापनाकी यह आदि कहानी है। जैनधर्मके संस्थापक ऋषभदेव थे। जैन इतिहासका श्रीगणेश ऋषभ जीवनसे होना मानना ठीक है।

भागवतमें ऋषभका आठवां अवतार।

जैनेतर साहित्यसे भी ऋषभदेवके अस्तित्व पर प्रकाश पड़ता है और ऐसा कोई कारण नहीं कि जिसकी वजहसे उनको जैन धर्म तीर्थ—ङ्करोंका संस्थापक न माना जावे। भागवत मतके चौबीस अवतारोंमें ऋषभदेव आठवें माने गये हैं और उनके विषयमें कहा गया है कि—

राजा नाभिकी पत्नी सुदेवीके गर्भसे भगवान्ने ऋषभदेवके रूपमें जन्म लिया। इस अवतारमें समस्त आसक्तियोंसे रहित रहकर अपनी इन्द्रियों और मनको अत्यन्त शान्त करके एवं अपने स्वरूपमें स्थित होकर समदर्शीके रूपमें उन्होंने जड़ पुरुषके वेषमें योगसाधना की। इस स्थितिको महर्षि लोग परमहंस पद अथवा अवधूत चर्या कहते हैं।"

— भागवत १-७ ( )×

इस योगचर्याके द्वारा ऋषभदेवके सब पुरुषार्थ पूर्ण हुए थे और उनको सब सिद्धियाँ प्राप्त हुई थीं। किन्तु उन्होंने उनका कभी

१—आदिपुराण और ह० १ प्रथम भाग एवं इसका भगवान् पार्श्वनाथ (सूरत) प्रस्तावना देखो।

× कल्याण—भागवतांक पृ० १ १

स्वीकार नहीं किया।+ वह तो लोकोद्धारमें निरत थे–उनका ध्येय लोकको जड़वादसे निकालकर आत्मवादी बनाना था। 'भागवत कार' का यह कथन जैन तीर्थंकरके लिये सर्वथा उपयुक्त है। इसीलिये ही 'भागवत' में श्री ऋषभदेवको श्रद्धापूर्वक निम्नप्रकार नमस्कार किया है–

"निरन्तर विषय-भोगोंकी अभिलाषा करनेके कारण अपने वास्तविक श्रेयसे चिरकाल तक बेसुध हुए लोगोंको जिन्होंने करुणावश निर्भय आत्मलोकका उपदेश दिया और जो स्वयं निरन्तर अनुभव होनेवाले आत्मस्वरूपकी प्राप्तिसे सब प्रकारकी तृष्णाओंसे मुक्त थे, उन भगवान् ऋषभदेवको नमस्कार हो।"× —(भागवत ५–७–१९)

निःसन्देह भ० ऋषभदेव द्वारा ही पहले–पहले योगचर्या और आत्मवादका उपदेश दिया गया था। उनसे पहले हुये सात अवतारोंमेंसे किसीने भी उनके द्वारा निर्दिष्ट निःश्रेयसमार्गका उपदेश नहीं दिया था। पहले अवतारकी महत्ता ब्रह्मचर्य धारण करनमें बताई गई है। दूसरा वाराह अवतार रसातलमें गई पृथ्वीका उद्धार करनेके लिए प्रसिद्ध है। नारद ऋषि तीसरे अवतार थे, जो अपने तत्रवादके लिए प्रसिद्ध थे। नर–नारायणका चौथा अवतार संयमी जीवनके लिए प्रसिद्ध हुआ। पांचवें कपिल अवतार द्वारा सांख्यमतके निरूपणका उल्लेख है। जैनशास्त्र भी ऋषभ भगवानसे पहिले ही मरीचि ऋषिद्वारा सांख्य सदृश मतका प्रकाश हुआ बतलाते हैं। भागवतमें भी मरीचि आदि ऋषियोंका उल्लेख है। उनसे जब विश्वका समुचित विस्तार नहीं हुआ तब अन्य अवतार हुए।* इनमें ऋषभावतार भी आजाता है। छठे

+ पूर्व० पृ० ४५५। × 'कल्याण'–भागवतांक, पृ० ४१७।
* कल्याण–भागवतांक पृ० ३४०...

दत्तात्रेय अवतारमें प्रह्लादको आत्मज्ञानका उपदेश देनेका उल्लेख है। आठवीं बार इस रूपमें अवतार लेनेका वर्णन है। उन्होंने राजा नाभिकी पत्नी मेरुदेवीके गर्भसे ऋषभदेवके रूपमें अवतार लेनेकी बात लिखी गई है। इस रूपमें उन्होंने परम हंसोंका वह मार्ग जो सभी आश्रमियोंके लिये वन्दनीय है दिखाया। × अतः यह स्पष्ट है कि विशुद्ध आत्मधर्मका निरूपण जिसमें योगसिद्ध दिगंबर भेषकी प्रधानता है। सबसे पहिले ऋषभदेवने ही लोकको बताया था। अतः हिन्दू पुराणोंके मतानुसार भी ऋषभदेव ही जैनधर्मके संस्थापक सिद्ध होते हैं + क्योंकि भागवत¹ के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड आदि हिन्दू पुराण भी इसी मतके पोषक हैं।

ऋग्वेदमें ऋषभ।

यह बात ही नहीं कि हिन्दू पुराणोंमें ही ऋषभावतारका वर्णन हो बल्कि ऋग्वेदमें भी ऋषभका कथन हुआ मिलता है:—

'ऋषभं मासमानानां सपत्नानां विषा सहिं।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपितं गवाम्
—ऋग्वेद १ ११।१६६

निस्सन्देह वेदके इस मंत्रमें ऋषभदेवको जैन तीर्थंकर नहीं कहा है और वेदोंके टीकाकार सायण आदि भी उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश नहीं डालते किन्तु वे ऋषभ शब्दसे एक व्यक्तिका नाम

× पूर्व पृ १८९ + वेद पुराणादि पृ २-४।
१—मार्कण्डेय प्र ५० पृ १५ ब्रह्माण्डपुराण अ १४ श्लो ५९-६१ अग्निपुराण अ [illegible] शम्भुदि-पितरके लिए।

ही अभिप्रेत मानते हैं।[1] और कहते हैं कि वैदिक अनुश्रुतिकी व्याख्या पुराणों और काव्योंके आधारसे करना उचित है।[2] पुराणोंमें ऋषभदेवका वर्णन ठीक वैसा ही है जैसा जैन शास्त्रोंमें मिलता है। अतएव उपर्युक्त वेदमंत्रके ऋषभदेवको जैन तीर्थङ्कर मानना उपयुक्त ही है। श्री विरुपाक्ष वडियर जैसे वैदिक विद्वान और श्री स्टीवेन्सन सदृश पाश्चात्य विद्वान भी वैदिक साहित्यमें प्रयुक्त ऋषभ नामको जैन तीर्थङ्करका ही बोधक मानते हैं।[3] अत यह मान्यता ठीक है कि जैन धर्मके संस्थापक ऋषभदेव हीका उल्लेख वैदिक साहित्यमें हुआ है। उनके अतिरिक्त किसी दूसरे ऋषभदेवका पता किसी भी अन्य श्रोतसे नहीं चलता। प्रत्युत बौद्ध साहित्यसे भी जैन धर्मके आदि संस्थापक ऋषभदेव ही प्रमाणित होते हैं।[4]

१–सावनुक्रमणिक (लदन) पृ० १६४। २–अर्ली इंडिया भूमिका।

३–जैन पथप्रदर्शक, भाग ३ अंक ३ पृष्ठ १०६

Prof Stevenson remarked "It is seldom that Jainas and Brahmanas agree, that I do not see, how we can refuse them credit in this instance, where they do so

—Kalpasutra, Introduction p XVI

४–न्यायबिंदु अ० ३ एवं मञ्जुश्री मूलकल्पमें भी जैनधर्मके आदि मनन् पुरुषरूपमें श्रीऋषभदेवका उल्लेख इस प्रकार हुआ है —

"कपिल मुनिर्नाम ऋषिवरो, निर्ग्रन्थ-तीर्थंकर ऋषभ निर्ग्रन्थरूपि।"

—आर्यमञ्जुश्री-मूलकल्प (त्रिवेंद्रम) पृष्ठ ४५

इस उल्लेखके सम्बन्धमें जर्मन प्रो० ग्लॉसेनॉप्पने विवेचन करते हुये लिखा था कि बौद्धोंने लोकका संकेतमय चित्र उपस्थित करते हुये एक महलमें एकमतके महान् संस्थापकको भुलाया नहीं था।

(" Buddhists could not omit the great prophet of a religion which had acquired glory all over India."
—Prof. Helmuth von Glassenapp) J A., III, p 47

कुछ लोगोंका ऐसा ख्याल है कि वैदिक अवतारोंमेंसे ऋषभदेवको लेकर जैनोंने अपने मतको प्राचीन रूप देनेके लिये चौबीस तीर्थंकरोंकी मान्यता गढ़ ली है—जैन धर्म भ० पार्श्वनाथसे पुराना नहीं है किन्तु यह कोरा ख्याल ही है—इसमें तथ्य कुछ नहीं है। हिन्दू अवतारोंमें लोकके उन प्रमुख महापुरुषोंको ले लिया गया है जिनका सम्बन्ध किसी न किसी रूपमें भारतवर्षसे था उन महापुरुषोंकी लोकोपकार वृत्ति ही उनकी गिनती अवतारोंमें करनेके लिए पर्याप्त मानी गई। यही कारण है कि अवतारोंमें अन्तिम दो बुद्ध और कल्कि माने गए हैं।[1]

ऋषभ जैनोंके मूल पुरुष हैं।

जिस प्रकार वैदिक धर्मानुयायी न होते हुए भी बुद्धको अवतारोंमें गिना गया उसी तरह ऋषभदेव भी वैदिक धर्मानुयायी नहीं थे और फिर भी वह अवतार माने गए क्योंकि उन्होंने महती लोकोपकार किया था लोकको सच्चा आत्मबोध कराया था। हिंदू पुराणोंमें स्पष्ट उनको एक स्वतंत्र धाम ईश्वरप्राप्तिवाले धर्मका प्रतिष्ठापक कहा है। जैन भी यही कहते हैं। अतएव यह माननेके लिए कोई कारण नहीं है कि जैनियोंने ऋषभदेवका चरित्र ब्राह्मणोंसे लिया अथवा ऋषभदेव जैन महापुरुष नहीं थे। जिस प्रकार बौद्ध धर्मके संस्थापक म० बुद्धको अवतार माना गया उसी तरह जैनधर्मके संस्थापक ऋषभदेवको भी हिन्दुओंने अवतार माना है। इस अवस्थामें जैनियोंकी मान्यता कि चौबीस तीर्थंकर हुए प्रमाणित सिद्ध होती है।

१—भागवत स्कंध १ अ० ८ श्लोक १०-१८ ।

पार्श्वनाथजी संस्थापक नहीं है।

इसके विपरीत इस मान्यतामें तो जरा भी तथ्य नहीं है कि जैनधर्म भ० पार्श्वनाथसे ही चला। प्रो० हर्मन जैकोवीको हठात यह स्वीकार करना पड़ा था कि भ० पार्श्वनाथको जैन धर्मका संस्थापक माननेके लिये कोई आधार या प्रमाण नहीं है—जैनी ऋषभदेवको पहिला तीर्थंकर मानते हैं और उनकी इस मान्यतामें कुछ तथ्य है।[1] प्रो० दासगुप्ता भी ऋषभदेवको ही जैनधर्मका संस्थापक प्रगट करते हैं और स्पष्ट लिखते हैं कि महावीर जैनधर्मके संस्थापक नहीं थे।[2] किन्तु आजकल राजनैतिक प्रक्रियाके वश हो बड़ेर नेता भ० महावीरको ही जैनधर्मका संस्थापक बतानेकी गल्ती करते है।[3] और सर्वप्राचीन जैनशासनको वैदिक हिन्दुओंका प्रतिगामी दल या शाखा घोषित करके सत्यका खून करते हैं, किन्तु निष्पक्ष न्यायाधीश अथवा

१– 'But there is nothing to prove that Parsva was the founder of Jainism Jaina tradition is unanimous in making Rishabha, the first Tirthankara (as its founder) There may be something historical in the tradition which make him the first Tirthankara' –Prof Dr Hermann Jacobi (IA IX 163)

२–ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलॉसफी–अ० ६ प्र० १६९.

३–माननीय प० जवाहरलाल नेहरूने यद्यपि एक स्थलपर जैनधर्मको वैदिक धर्मसे भिन्न लिखा परन्तु दूसरे स्थल पर जैनोंको हिन्दू और भ० महावीरको जैनधर्मका संस्थापक लिखनकी गल्ती की है।

—(हि॰दु० पृ० ७९ व १३६–१३८)

१ 'Modern research has shown that Jains are not Hindu dissenters'—Justice Krishnamurti Shastri, Actg Chief Justice of Madras High Court —(I L R. 50 Mad 328)

इतिहासमें जैनोंको भारतकी प्राचीनतम लोक कथा और धर्मके अनुयायी ही प्रगट करते हैं।

सिंधुक पुरातत्वमें जैनधर्म।

भारतका पुरातत्व भी इसी मतका पोषक है। सिंधु उपत्यकामें मोहनजोदड़ो और हड़प्पास पांच हजार वर्ष पहलेकी मुद्रायें और मूर्तियां मिली हैं। उनका स्वरूप ध्यानमुद्रा कायोत्सर्ग स्थिति और उन पर अङ्कित चिह्न ठीक वही हैं जोकि जैन मूर्तियोंमें मिलते हैं। श्री रामप्रसादजी चन्दाने लिखा है कि वैदिक क्रियाकांडी मतको छोड़कर शेष सब ही भारतीय ऐतिहासिक मतोंमें योग एक मान्य *सिद्धान्त रहा है। इसमें भी जैन तीर्थङ्करोंके निकट ध्यान योगका* महत्व विशेष था। उनका कायोत्सर्ग आसन तो निरी निरा जैन साधना ही की चीज है। इस आसनमें योगी बैठता नहीं खड़ा हो रहता है। आदिपुराण (१८ वां अ०) में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ या वृषभदेवके प्रसंगमें कायोत्सर्ग आसनका वर्णन किया गया है। सिंधु

Jainism prevailed in this country long before Brahmanism came into existence or held the field, and it is wrong to think that the Jains were originally Hindus and were subsequently converted into Jainism.—Hon'ble Justice Rangnekar, of the Bombay High Court. (A. I. R. 939 Bombay 377)

The Jains have remained as an organised community all through the history of India from before the rise of Buddhism down to day.—Prof. T. W. Rhys Davids.

१—मोडर्न रि० भा० १ पृ० ५९—७८ व मॉडर्नरिव्यू अगस्त १९१९ पृ० १५९—१६१

उपत्यका (Indus Valley) से उपलब्ध हुई मुद्राओंपर केवल बैठी हुई मूर्तियां ही ध्यानमग्न अङ्कित है, इतना ही नहीं, बल्कि उनपर कायोत्सर्ग आसनमें खड़ी हुई ध्यानमग्न आकृतिया भी अंकित हैं। अत यह स्पष्ट है कि इस प्राचीनकालमें सिंधु उपत्यकामें योगचर्या प्रचलित थी। कर्जन म्युजियम मथुरामें कायोत्सर्ग मुद्रामें स्थित तीर्थङ्कर ऋषभकी एक मूर्ति है। उसका सादृश्य सिंधुकी मुद्राओंपर अंकित कायोत्सर्ग स्थितिकी आकृतियोंसे है। ऋषभका भाव बैलसे है और तीर्थंकर ऋषभका चिन्ह बैल ही है। अत नं० ३ से ५ तककी सिंधुमुद्राओं पर जो आकृतियां अंकित हैं वे ऋषभकी ही पूर्वरूप हैं।'

सिन्धु-मुद्राओं (Indus Seals) पर अङ्कित नग्न कायोत्सर्ग आकृतियोंसे ही जैन मूर्तियोंका साम्य हो, केवल यह बात ही नहीं है, बल्कि मोहन जो दड़ो और हरप्पासे ऐसी मूर्तियां भी मिली हैं, जिसको कोई भी विद्वान् नि सन्देह जैन मूर्तिया कह सकता है, परंतु विद्वज्जन इन्हें जैन कहनसे इसलिये हिचकते हैं कि वे ई०पू० आठवीं शताब्दिसे पहले जैनधर्मका अस्तित्व ही नहीं मानते। किंतु उनकी यह मान्यता निराधार है। भारतीय साहित्य तो ऋषभदेवको ही जैनधर्मका संस्थापक मानता है, जो राम और लक्ष्मणसे भी बहुत पहले हुए थे। मोहन जो दड़ोके ऐश्वर्यकालमें बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि अथवा नेमिनाथका तीर्थकाल चल रहा था। अत वहांके लोगोंमें जैनधर्मकी मान्यता होना स्वाभाविक है। काठियावाड़से उपलब्ध एक ताम्रपत्रमें स्व० प्रो० प्राणनाथने पढ़ा कि सुमेर नृपनेबुशदनेजर प्रथम

१–मॉडर्न रिव्यू, आगस्त १९३२, पृष्ट १५६–१५९।

कहलाता था, जिसका अर्थ होता है 'सर्वज्ञ ईश' (Knowing Lord) इसे 'नन्नार' (Light=प्रकाश) भी कहते थे[1]। जैनधर्ममें आप्तदेवको सर्वज्ञ और सर्वदर्शी माना गया है और वह ज्ञानपुंजके प्रकाश कहे गये है। चन्द्रदेव स्वयं एक तीर्थङ्करका नाम था। मूलमें 'सिन' शब्दके अर्थ 'सर्वज्ञ-ईश' को भूलकर सु-लोग चन्द्रमाको पूजने लगे। वैसे जैनी भी सूर्य और चंद्रके विमानोंमें अकृत्रिम जिन मंदिर और जिन प्रतिमा मानकर उनकी नितप्रति वन्दना करते हैं। भ० पार्श्वनाथ अपने पूर्वभवमें जब आनन्दकुमार राजा थे, तब उन्होंने महामह यज्ञ अथवा जिनपूजा विधान किया था और सूर्य विमानमें स्थित जिनेन्द्रकी वह विशेष पूजा करने लगे थे[2]। मालूम होता है तभीसे सु जातिके एवं अन्य जैनियोंमें सूर्य एवं चन्द्रकी पूजा करनेका प्रचार हुआ था। सुमेर और सिन्धुकी मुद्राओंपर इन देवताओंके नाम अर्थात् सिन, नन्नार, श्री आदि पढे गये हैं।[3] अत इस विवेचनसे भी जैनधर्मका मोहन जोदड़ोके ऐश्वर्यकालमें प्रचलित होना सिद्ध है। विद्वानोंको जैन पुराणोंकी मान्यताओंमें ऐतिहासिक तथ्य सूझने लगा है और वे अरिष्टनेमिको भी ऐतिहासिक पुरुष मानने लगे हैं।[4] सिंधु और सौवीर अथवा सौराष्ट्रके इतिहास पर जैन पुराणों और कथाग्रन्थोंसे विशेष प्रकाश पड़नेकी संभावना है।[5]

१-इंहिक्का० भा० ७ परिशिष्ट पृ० २७-३०, २-हमारा "भगवान पार्श्वनाथ' (सूरत) पृष्ट २९-३७ ३-इंहिक्का० भा०७ व भा० ८ के परिशिष्ट देखो।

4. Lord Aristanemi, Appendix, p p 87-90.

5 ' the Pauranic literature of the Jains contains some

नं० १ (Ph CXVI) और नं० ७ (Ph CXVIII) की मुद्राओंपर एक पंक्तिमें छै नंगे योगी खडे दर्शाये गये हैं। उनके आगे एक भक्त घुटने टेके हुये बैठा है, जिसके हाथमें छुरी है। उसके सन्मुख एक बकरी खडी है और बकरीके सामने एक वृक्ष है जिसके मध्यमें मनुष्याकृति बनी हुई है।[1] यह दृश्य पशुबलिका बोधक बताया जाता है। भक्त वृक्षमें स्थित देवताको बकरीकी बलि चढ़ाकर प्रसन्न करना चाहता है, यह तो ठीक है। किन्तु छै नंगे योगी क्यों अंकित किये गये हैं? वृक्ष अथवा यज्ञकुण्डसे इनका कोई सम्बन्ध किसी अन्य स्रोतसे प्रमाणित नहीं होता। लगभग बीस वर्षकी बात है। 'वीर' के विशेषांकके लिए एक रंगीन चित्र हमने बनवाया था। उस चित्रमें भी उपर्युक्त मुद्राके समान ही दृश्य अनायास अंकित कराया था—उस समय इस मुद्राका हमें पता भी नहीं था। चित्र और इस मुद्राके दृश्यमें अन्तर केवल इतना है कि चित्रमें बकरीके स्थानपर घोड़ा और वृक्षके स्थानपर यज्ञकुण्ड एवं बधक अङ्कित हैं। चित्रमें भ० महावीर योगीरूपमें पशु यज्ञ न करनेके भावसे चित्रित किये गये हैं। इसी प्रकार उपर्युक्त मुद्राओंमें छै योगी बकरीकी बलि न चढ़ानेका उपदेश देते हुए ही प्रतीत होते हैं। जैन कथा-ग्रंथोंमें भ० नमिनाथके समयमें हुए छै चारण दिगम्बर मुनियोंके अस्तित्वका पता चलता है।[2] अतएव सिंधुकी इन मुद्राओंसे भी अहिंसाप्रधान दिगम्बर योगियोंका मत उस समय प्रचलित प्रमाणित

१—इंडिक०, भा० ८ पृ० १२३।
२—अनागत दशाओ (अहमदाबाद) पृ० १०।

होता है। इसी प्रकार हड़प्पासे प्राप्त मानवकी नग्न मूर्ति, (प्लेट नं० १०) को उसकी दृष्टिसे अद्वितीय है एक दिगम्बर योगीकी ही मूर्ति प्रमाणित होती है क्योंकि वह नग्न है और उसके हाथ कायोत्सर्ग मुद्रामें बने हुये हैं। खेद है कि मूर्तिका शिरोभाग और पुरुषोंसे नीचेका भाग अनुपलब्ध है। पर तो भी पदस्थ भाग मूर्तिको कायोत्सर्ग मुद्रामें स्थित प्रमाणित करता है। अत इस मूर्तिको एक दिगम्बर जैन श्रमणकी प्रतिमा मानना बेजा नहीं है। इसी तरह मोहन—जो—दड़ोसे उपलब्ध एक पद्मासन मूर्ति (प्लेट नं० १३ चित्र नं० १५ व १६) जिसके सिरपर सर्प फण बना हुआ है बिल्कुल भगवान सुपार्श्व अथवा पार्श्वनाथकी पद्मासन मूर्तिके अनुरूप है। अत हम निस्संकोच जैन मूर्ति कह सकते हैं। वैसी मूर्तियां जैन मंदिरोंमें पूजी जाती हैं। अतएव पूर्व विवेचनको दृष्टिमें रखते हुये यह मानना ठीक है कि मोहनजोदड़ोके लोगोंमें जैनधर्म भी प्रचलित था। इस लोगोंका द्राविड़ आदिके लोगोंसे था और द्राविड़ भी जैन थे यह बात विद्वज्जन प्रगट कर चुके हैं। अतएव इस साक्षीसे भी भ० ऋषभदेवको जैनधर्मका संस्थापक मानना ठीक है।

भारतीय पुरातत्वमें तीर्थंकर।

पुरातत्वमें मथुराका देवनिर्मित बौद्धस्तूप और उस परकी मूर्ति तथा कंकालीके पाससे प्राप्त मौर्यकालीन दि० जैन प्रतिमाएं सब

Short Studies in the Science of Comparative Religion p p 43 244

२—मेमी पृष्ठ १०९-२८

३—वेरिस्पा भा० ११ पृष्ठ ९६

गिरि उदयगिरि (ओडीसा) तेरापुर (धाराशिवं) और ढंक (काठीयावाड़) की गुफाओंकी जिन मूर्तियां ईस्वी पूर्व आठवीं शताब्दीसे ईस्वीपूर्व पहली शताब्दी तक चौबीस तीर्थंकरोंकी मान्यताको प्रचलित प्रमाणित करते हैं। हाथीगुफाके शिलालेखमें स्पष्ट लिखा है[४] कि नन्द सम्राट् कलिंग जिनकी जिस मूर्तिको मगध ले गये उसे सम्राट् खारवेल वापस कलिंग ले आये थे। इन उल्लेखोंसे जैन तीर्थङ्करोंकी मान्यता एक ऐतिहासिक वार्ता प्रमाणित होती है। अत ऋषभदेवको ही जैनोंका आदि पुरुष मानना ठीक है।

उपरान्तकालमें।

ऋषभदेवसे उद्भूत होकर जैनधर्म और जैनी लोकव्यवहारमें अग्रसर हुए थे। ऋषभदेवके पुत्र भरत भारतके पहले सम्राट् थे और उनके द्वारा अहिंसा संस्कृतिका विकास विश्वमें हुआ था। अहिंसासंस्कृतिका वह अरुणोदय काल था। उस समयसे ही श्रमण और ब्राह्मण—दो भिन्न परम्पराओंका प्रचार होगया था। ऋषभसे पुष्पदन्त तक तीर्थङ्करों द्वारा अहिंसा धर्मका पूर्ण प्रचार होता रहा था। किन्तु दसवें तीर्थङ्कर शीतलनाथके समयसे अहिंसा संस्कृतिके सूर्यको पाखण्डरूपी राहुने ग्रस्त कर लिया था। उस समय तक जो ब्राह्मण वर्ग ब्रह्मचर्यका पालन करके आत्मानुभूतिमें मग्न था, वह शिथिलाचारका शिकार हुआ। वैदिक ऋषि मुण्डशालायनने परिग्रह पापको सिर पर उठाया—हाथी, घोड़ा

1 Notes on the Remains on Dhauli & Caves of Udaygiri p 8.

२–करकण्डुचरिय, प्रस्तावना, पृष्ठ ४१–४८

३–दी आर्केलॉजी ऑव गुजरात, पृष्ठ १६६–१६८.

४–जबिओसो० भा० ३ पृष्ठ ४६५-४६७

था। नेमिने इस शिक्षाकी नृशंसता महाभारतमें घटित महान् मानव-हत्याकाण्डमें अपनी आंखोंसे देखी थी। महाभारत युद्धमें उन्होंने सक्रिय भाग लिया था। मानवके नैतिक पतनके उस अन्यतम भयानक दृश्यको देखकर उनका विवेक जागृत हुआ होगा—तभी तो नेमि पशुओंकी बिलबिलाहट सुनकर श्रमण साधनाके साधक बने थे। लोकका मानव तो पार्थिव व्यक्तित्वका पुजारी बना हुआ था। द्रोण जैसा आचार्य अपनी मान-रक्षाके लिये पचालके दो भाग करानेमें कारण बना था। धर्ममूर्ति युधिष्ठिर सती द्रौपदीको जुएमें दाव पर लगा बैठे थे। यादव सुरापानसे अपने कुलका ही नाश कर बैठे थे। नेमिने कामिनी कचन और मद्य मांसके विरुद्ध बगावत की। उन्होंने अपना विवाह नहीं किया—बारात चढ़ीकी चढ़ी रह गई; नेमि श्रमण साधु हुये तो उनकी भावी पत्नी राजुल भी पीछे न रहीं—वह साध्वी हो गई। लोकमें तहलका मच गया। उसने रुककर कुछ सोचा और तीर्थंकर नेमिके अहिंसामई उपदेशसे वह प्रभावित हुआ। मानव-समाजमें प्रतिक्रिया जन्मी। भारतमें उपनिषदों द्वारा आत्मविद्याका प्रचार किया गया। भारतके बाहर भी अहिंसा बलवती हुई। किन्तु हिंसा यूंही मिटनेवाली न थी। पशुयज्ञोंके साथ शुष्क ज्ञान और हठयोगको अपनाया गया। अनेक मत प्रवर्तक आगे आये, जिन्होंने मनमाने ढंगसे हिंसा-अहिंसामें समन्वय करानेके प्रयत्न किये। भगवान् पार्श्वनाथने अहिंसा-सस्कृति और दिगम्बर योगमुद्राको आगे बढ़ाया। अहिंसा धर्मका प्रभाव लोकव्यापी हुआ। ईरानमें जहां

*—हमारी 'भगवान् पार्श्वनाथ' नामक पुस्तक (सूरत) देखो।

आजसे करीब ६००० ई० पूर्व कालमें जरथुस्त्र प्रथम (Zoroaster) I द्वारा हिंसक यज्ञिकाण्डका विधान हुआ बताया जाता है वहाँ जरथुस्त्र द्वितीय (Zoroaster II) ने ई० पूर्व सन् ७ ० में अपने उपदेशमें अहिंसक यज्ञिकाण्डोंका ही निरूपण किया था। ईस्वी पूर्व दूसरी तीसरी शताब्दीमें रचे गए अरिस्टीयसके पत्र (The Letter of Aristeas) में स्पष्ट किया है कि यहूदी जाति प्राचीन भारतेतर जातियोंके ग्रन्थ अंकुश भाषामें लिखे गए थे और उनमें अहिंसक यज्ञिकाण्डोंका ही विधान था। यूनानमें पिथागोर (Pythagoras) एवं अन्य तत्ववेत्ताओंने अहिंसाका प्रचार किया था। सारांश- जैन तीर्थंकरों और श्रमणों द्वारा अहिंसा संस्कृतिका विकास विश्वव्यापी हुआ था। इन तीर्थंकरोंका वर्णन हम प्रस्तुत इतिहासके प्रथम भागमें कर चुके हैं।

भगवान महावीर।

उपरान्त अन्तिम तीर्थंकर भ० महावीरने एक सर्वतोमुखी क्रांति भारतमें उपस्थित की थी जिससे समाज व्यवस्थामें उदार साम्यवृत्तिका समावेश हुआ लोक जीवन परोपकारमय अहिंसा वृत्तिका पोषक बना। पशुओंको भी प्राण मिला और गोधनकी वृद्धि हुई। मानव जीवन नैतिकताके ऊँचे स्तर पर पहुँचा। कोई भी मानव दास बनाकर नहीं रक्खा गया पुरुष ही नहीं स्त्रियाँ भी घर छोड़कर आत्मोद्धारके पुनीत कार्यमें लगीं थीं; मानवोंमें राष्ट्रीय एकीकरणकी भावना जगी थी।

१–हिरिई० भा० १२ पृ० १४३ १४४ और वेए० भा० ११ पृ० १४ १९।

बहुतेरे राज्य प्रजातंत्ररूपमें शासित हुये और सम्राट् श्रेणिक बिम्बसारने ईरानियोंको भारत सीमामें पैर नहीं धरने दिया। इन्होंने अपने मित्र पार्वतीय नरेशकी सहायता करनेके लिये जैन युवक वीरवर जम्बूकुमारके सेनापतित्वमें सेना भेजी थी। श्रेणिकने मगध राज्यका महत्व बढ़ाया था। वह भ० महावीरके अनन्य भक्त-एक कट्टर जैनी थे।

अन्य राज्य।

नंदवंशके राजा भी जैनी थे और इन्होंने भी अहिंसा संस्कृतिको आगे बढ़ानेका उद्योग किया था। आखिर मौर्य्य सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वारा भारतका राष्ट्रीय एकीकरण हुआ था। चन्द्रगुप्तने यूनानियोंसे मोर्चा लेकर उनको भारतसे बाहर निकाल दिया था और अफगानिस्तानके प्राचीन भारतीय प्रदेशको भारतमें मिला लिया था। श्रुतकेवली भद्रबाहु सम्राट् चन्द्रगुप्तके धर्मगुरु थे और उनके निकट ही इन्होंने जैनमुनि दीक्षा धारण की थी। सम्राट् अशोक और सम्प्रतिने धर्मलेखोंको जगह जगह पर खुदवाकर अहिंसाधर्मका प्रचार किया था और विदेशोंमें धर्मप्रचारक भी भेजे थे।

जब इंडोग्रीक शासक भारतमें घुस आये और उनका दमत्रय (Dametrius) नामक राजा मथुरासे भी आगे मगधकी ओर बढ़ गया था, तब कलिङ्ग चक्रवर्ती जैन सम्राट् ऐल खारवेल आगे आये और ज्यों ही इन्होंने मगध सम्राट् वृहस्पति मित्रको परास्त किया, त्यों ही दमत्रयके छक्के छूट गये और वह मथुरा छोड़कर भाग गया। एकबार पुनः भारतको स्वाधीनता प्राप्त हुई।

किन्तु साम्प्रदायिक विषमताके कारण भारतीय राष्ट्रीयता अधिक

न पंगत गई। गर्दभिल्ल राजा शासन-मदमें न्यायको भूल गये। जैन संघपर अत्याचार हुआ। कालकाचार्य उसके प्रतिशोधकी भावनासे वक्रस्थान पहुंचे और शकशाही राजाओंको सिंधु सौराष्ट्रमें लिवा लाये और गर्दभिल्ल राजाके अत्याचारका अन्त किया।

अनन्तर सम्राट् विक्रमादित्यका प्रभुत्व सारे भारत पर एक-समान व्याप्त हुआ। आचार्य सिद्धसेनने सम्राट् विक्रमादित्यको अहिंसा धर्मका पुजारी बनाया था।

आन्ध्रवंशके राजा भी जैनधर्मसे प्रभावित हुए थे। उत्तर भारतके गुप्तवंशके राजा लोग यद्यपि वैष्णव धर्मके भक्त थे परन्तु वे भी जैनधर्मसे प्रभावित हुए थे। दक्षिण भारतमें कदम्ब, चालुक्य, राष्ट्रकूट, गंग, होय्सल, शिलाहार, [illegible] पल्लव, चेर, पाण्ड्य आदि राजवंशोंका जैनाचार्योंने पथ प्रदर्शन किया था। रविवर्मा, अमोघवर्ष, [illegible] कुमारपाल आदि शासकोंके धर्मगुरु बड़े २ जैनाचार्य थे। उनके द्वारा राज्य संचालन अहिंसा नियमोंके आधार पर किया जाता था। प्रस्तुत इतिहासके द्वितीय और तृतीय भागोंके कई खण्ड ग्रन्थोंमें हम इन सबका समग्र इतिहास लिख चुके हैं। अतएव यह सिंहावलोकन इस बातको स्पष्ट करनेके लिये यहां किया गया है कि जैनोंने वस्तुतः भारतके राष्ट्रीय निर्माण और राजनीतिमें एक महत्त्वशाली सक्रिय भाग लिया है क्योंकि कुछ लोगोंको ऐसी भ्रान्ति है कि जैनधर्म कभी भी राष्ट्र-धर्म नहीं रहा है। ऐसे लोगोंको जैन इतिहासका अध्ययन करके अपने ज्ञानका संतुलन कर लेना चाहिये।

हमारे इतिहासके तृतीय भागके चार खंड प्रकाशित हो चुके,

प्रस्तुत अंश पांचवा खंड है। इस खंडमें होयसल साम्राज्यके अस्तकारके उपरान्त प्रतिष्ठापित विजयनगर साम्राज्यके अन्तर्गत जैनधर्मके इतिहासको संकलित करना अभीष्ट है।

पांचवा खंड।

होयसल साम्राज्यकी स्थापना जैनाचार्य द्वारा जैनोत्कर्षके लिये हुई थी और उस कालमें जैनोंका उत्कर्ष भी विशेष हुआ था। किंतु श्री रामानुज द्वारा वैष्णवधर्मके प्रचारसे और होयसलनरेश विष्णुवर्द्धनके धर्मप्रवर्तनसे जैनोत्कर्षका सूर्य्य अस्ताचलको खिसक चला था। उस अवसान कालमें भी जैन राजकर्मचारियों, व्यापारियों और साधारण जनता द्वारा जैनका प्रभाव स्थिर रखनेका सदूप्रयास हुआ था। किन्तु उसीसमय दक्षिण भारतपर मुसलमानोंके आक्रमण हुए। जिनके कारण होयसल साम्राज्य ही जर्जरित हो गया। जैनधर्मको अति विषम स्थिति हो गई—जैनोंकी आशायें विलीन हो गईं, परन्तु वह पराभूत नहीं हुवे। अलबत्ता जैनकी राज्यमान्यता नष्ट हो गई और उसका स्थान वैष्णवधर्मने ले लिया, फिर भी जैनधर्मकी जड़ें उस प्रदेशमें गहरी जमीं हुईं थीं, इसलिये उसे न तो वैष्णवधर्म निकाल सका और नहीं ही मुसलमानोंके आक्रमण।

होयसल नरेश बल्लाल चतुर्थके पराभवने उसके सादारोंको स्वाधीन होनेका मौका दिया। उधर जनताने यह अनुभव किया कि देशकी रक्षाके लिये एक बलवान शासककी आवश्यकता है। होयसल नरेश इतने शक्तिशाली नहीं रहे थे। साथ ही कोई प्रभावशाली जैनाचार्य

भी इस समय में था जो जैन शासनको फिर आगे लाता। दूसरी ओर जैनाचार्य विद्यारण्य आदि अपनी प्रतिभासे चमक रहे थे। उन्होंने मुसलमानोंके आक्रमणसे सावधान किया। सब ही सरदारोंने संगठित होकर एक हिन्दू साम्राज्यको स्थापित करनेके लिये उनको उत्साहित किया। इस मनोवृत्ति और राष्ट्रीय भावनाका परिणाम विजयनगर साम्राज्य था। पाठक आगेके पृष्ठोंमें उसकी स्थापना और राज्य शासनके इतिहासके साथ जैनधर्मकी ऐतिहासिक स्थितिका परिचय अवलोकन कीजिये।

वस्तुतः जैनधर्म भ० ऋषभ द्वारा उद्भुत होकर आजतक अपनी अहिंसा-संस्कृतिके आध्यात्मिक रूपमें जीवित रहा है। जैन शासन अहिंसा धर्म प्रधानमें लोककल्याणक और शक्तिशाली सदा रह चुका है। जैन शासनने मानवको उसकी महानतामें प्रगट होने दिया। वह महा मानव हुआ। लोककल्याणका आदर्श उसने उपस्थित किया। विजयनगर साम्राज्य कालमें जैनधर्मके इस विशाल रूपकी आभा सर्वत्र चमकती थी; पाठकगण वस्तुस्थितिको आगे पढ़िये।

विजयनगर-साम्राज्य
और
उसमें जैनधर्म और जैनियोंकी
ऐतिहासिक स्थिति।

—संक्षिप्त जैन इतिहास।

विजयनगर साम्राज्यका इतिहास।

प्रथम संगम राजवंश और जैनधर्म।

भारतकी पूर्व स्थिति।

भारतवर्षकी प्राकृतिक रचना ऐसी रही है कि उत्तर भारतके निवासियोंका सम्बन्ध दक्षिणके भारतियोंसे कम रह सका है। भारतका प्राचीन रूप अबसे कुछ अटपटा था—तब उसका विस्तार अफगानिस्तानसे भी कुछ आगेतक फैला हुआ था। एक समय मगध और नेपालके नीचे तक समुद्रकी खाड़ी फैली हुई थी और राजपूतानामें भी समुद्रजल हिलोरे ले रहा था। उधर दक्षिण भारतमें मलय पर्वतसे पश्चिम दक्षिणमें स्थलभाग मौजूद था, जो अब समुद्रके उदरमें समाया हुआ है। उस समय द्राविड़ और असुर जातिके मूल निवासी सारे भारतमें फैले हुये थे, जिनके अवशेष आज भी विलोचिस्तान, सिन्धु और दक्षिणमें चन्द्रहल्ली आदि स्थानोंपर मिलते हैं। यह मूल निवासी द्राविड़ सर्वथा असभ्य नहीं थे। वह धर्म कर्मको पहिचानेवाले सुसंस्कृत और सभ्य मानव थे। जैन शास्त्रोंसे स्पष्ट है कि दक्षिण भारतमें पहले—पहले भ० ऋषभने अहिंसा संस्कृतिका प्रचार किया था और उनके पुत्र बाहुबलि दक्षिण भारतके पहले सम्राट् और पहले राजर्षि हुये थे। दक्षिणके प्राचीन ग्रन्थ थोल्कप्पियम् और सिलप्पदिकारम् महाकाव्य सदृश ग्रंथोंसे वहां पर जैन संस्कृतिके प्राचीन अस्तित्वका पता चलता है, जिसका समर्थन पुरातत्वसे भी होता है। *

---

* संजै इ०, भा० ३ खंड १ और २ और 'भपा०' देखो।

वैदिक आर्यधर्म मालूम होता है दक्षिण भारतमें जैनधर्मके बहुत समय बाद आया। रामायण¹से स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषि अगस्त्यने यहाँसे सर्वप्रथम इस धर्मको फैलाया था। पद्मपुराण²से स्पष्ट है कि नर्मदा तटके असुरोंमें जैनधर्मका प्रचार दैत्यों और देवलोक अवस्थामें हुआ था। भागवत³से स्पष्ट है कि ऋषभदेवके धर्मको कोंक वेंक और कुटक देशके राजा अर्हन्‌ने यहाँ प्रचलित किया था। कोंक देश स्पष्टतः कोंकण और वेंक दक्षिणके वेंकट देशका द्योतक है। कुटक सम्भवतः कर्नाटक और गंगवाडि प्रदेश अभिन्न है। यह देश एक अत्यन्त प्राचीनकालसे जैनधर्मके केन्द्र रहे हैं। इससे ही स्पष्ट विजयनगर राजाओंके शासन तक चला था।

विजयनगर राज्यकी भौगोलिक स्थिति।

होय्सल साम्राज्यके भग्नावशेषोंपर ही विजयनगरके हिन्दू साम्राज्यका निर्माण हुआ। परिणामतः विजयनगर साम्राज्यका विस्तार होय्सल सम्राटोंके शासित क्षेत्र तक प्रारम्भमें सीमित होना स्वाभाविक है। विजयनगर साम्राज्य दक्षिणके कर्नाटक, मदुरा कोंकण आदि प्रदेशोंमें फैला हुआ था। यह भूमि उर्वरा और बहुमूल्य वृक्षों और धातुओंसे परिपूर्ण थी। विजयनगर साम्राज्यकी समृद्धिमें यह भूमि एक मुख्य कारण थी।

---

१ वि० पृ० ५।

२—पद्मपुराण (भाषा) प्रथम सृष्टि खण्ड १३ अ०।

३—अस्य किलानु चरितमुपाकर्ण्य कोङ्क वेङ्क कुटकानां राजार्हन्नामोप-शिक्ष्य कलावधर्म उत्कृष्यमाणेन भवितव्येन विमोहितः.........स्वधर्मपथमित्यादि।
भा० ५ अ० ...

राजनैतिक स्थिति।

यह संकेत किया जाचुका है कि मुसलमानोंके आक्रमणोंसे दक्षिण भारतके हिन्दुओंमें आशंका और बेचैनी बढ़ गई थी। लोग अपनी जान और माल लेकर सुरक्षित स्थानोंको भागते थे। स्वयं होयसल सम्राट्को द्वारासमुद्रके पतन पर अपनी राजधानी वहांसे हटाकर तिरुवन्नमलाईमें स्थापित करना पड़ी थी। देवगिरिके यादव राजा और वारंगलके काकतीय नरेश मुसलमानोंका लोहा मान चुके थे और कृष्णा नदीसे उत्तरमें मुसलमानोंका बहुमती राज्य स्थापित हो गया था। अलाउद्दीन खिल्जीके सेनानायक मलिककाफूरने सन् १३०६ ई०में दक्षिण भारत पर आक्रमण किया था और होयसल नरेश वीर बल्लाल तृतीयको वह कैदकर लेगया था। किन्तु सुल्तानकी आज्ञाके उपरांत उसे मुक्त कर दिया गया था। मलिककाफूर होयसल साम्राज्य पर अधिकार जमाकर ही संतोषित नहीं हुआ—उसने आगे बढ़कर मदुराके पांड्य राजाओंको भी परास्त किया और रामेश्वरमें एक मस्जिद बनाकर उसने अपनी विजय-यात्रा समाप्त की थी। वह सन् १३११ ई०में दिल्ली लौट गया था और दक्षिणमें मुसलमानी सत्ताकी रक्षाके लिये पर्याप्त सेना छोड़ गया था। अमीर खुसरूने लिखा है कि मलिककाफूर इस दक्षिण विजयमें ९६००० मन सोना, जवाहिरात, हीरा आदि बहु मूल्य सामिग्री, ५१२ हाथी और १२००० घोड़े लूटकर दिल्ली ले गया था। मुसलमानोंके इस अत्याचारसे हिन्दुओंके हृदयोंमें उनके प्रति घृणा और प्रतिहिंसाकी भावना जागृत हो गई थी और उन्होंने उनको अपने देशसे बाहर निकालनेका

निश्चय किया था। किन्तु अभी वह सफलतामें भी नहीं पाये थे कि सन् १३२७ ई० में मुहम्मद तुगलकके सेनापति बहाउद्दीनने दक्षिण पर आक्रमण किया था। इस बार मुसलमान लूटमार करके ही सन्तोषित नहीं हुए बल्कि उन्होंने दक्षिणमें इस्लामकी जड़ जमानेके लिए लोगोंको जबरदस्ती मुसलमान बनाया। बहाउद्दीनने कम्पिलके राजाको मार डाला और उसके लड़केको मुसलमान बनाया था। इस आक्रमणका प्रभाव दक्षिण भारतके लिए अतीव हानिकारक सिद्ध हुआ। कोई भी हिन्दूधर्म सुरक्षित न रहा और समाज व्यवस्था भी छिन्न भिन्न होगई।

मल्लिककाफूरके विजयी लौटते ही होयसल भरत बीर बल्लाल तृतीय मुक्त हुए और उन्होंने अपना पूर्व गौरव प्राप्त किया था। काकतीय नरेश कृष्णा नायकको अपने साथ लेकर उन्होंने मुसलमानोंसे मोर्चा लिया और वारंगलसे मुसलमानोंको निकाल कर बाहर कर दिया। और फिर सन् १३३ ई० में दक्षिण भारतसे मुसलमानोंको निर्मूल करनेके लिए मदुराम विशाल सेना लेकर आक्रमण किया था। मुसलमान शासक परास्त होगया किन्तु वीर बल्लालने उसको मुक्त कर दिया। बदलेमें हिन्दू नरेशको इस उदार व्यवहारका फल कृतघ्नतामें दिया। मुसलमानोंने धोखेसे राजको आक्रमण कर दिया। हिंदू सेनामें भगदड़ मच गई और इस गड़बड़में वीर बल्लाल भी वीरगतिको प्राप्त हुए। इनके पश्चात् सन् १३४२ से उनका पुत्र विरुपाक्ष बल्लाल चतुर्थ शासनाधिकारी हुआ था किन्तु वह अपने पूर्वजोंके समान प्रतापी और शक्तिशाली नहीं था। इस प्रकार विजयनगर साम्राज्यकी स्थापनाके समय दक्षिण भारतकी राजनैतिक स्थिति एक अत्यन्त शोचनीय दशामें

था[1]। हिन्दुओंके दिल टूट रहे थे और सब यह अनुभव कर रहे थे कि किस तरह अपनी खोई हुई स्वाधीनता प्राप्त करें।

विजयनगर राज्यकी स्थापना।

सब ही सम्प्रदायोंके विचारशील पुरुष अनुभव कर रहे थे कि किसी पराक्रमी और बुद्धिशाली शासकके नेतृत्वमें हिन्दुओंका सुसंगठित राज्य स्थापित किया जावे। उन्होंने यह भी देखा कि होयसल नरेशोंके सामन्त महामंडलेश्वर राजा हरिहर और बुक्क अतीव शक्तिशाली और चतुर शासक हैं। अत एक संघ बुलाया गया और उसके निश्चयानुसार हरिहरके नेतृत्वमें एक सुगठित और समुदार राज्यकी स्थापना सन् १३४६ ई० में की गई। यद्यपि वह एक राजतंत्र था, परन्तु उसका ध्येय विशुद्ध राष्ट्रीयता थी—साम्प्रदायिक कट्टरताके जुयेको हिन्दुओंने तब उतार फेंका था। एक राष्ट्रकी भावना उनके हृदयमें तभी जागृत हुई जब कि यवनोंके भयंकर आक्रमणोंने उनकी आंखें खोलीं और साम्प्रदायिकताके विषका घातक परिणाम उनकी दृष्टिमें चढ़ा। वैष्णव, शैव, जैन, और लिंगायत जो आपसमें लड़ा करते थे, उनको एक संगठित—शक्तिमें परिवर्तित करनेका उद्देश्य विजयनगर साम्राज्यकी जड़ जमानेमें कारणभूत था। सन् १३४६ ई० में हरिहरने अपने भाईयों—बुक्क मारप्प तथा कम्पणकी सहायतासे लोकमतको मान देते हुए दक्षिण भारतकी स्वाधीनताको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये तुङ्गभद्रा नदीके तीर पर विजयनगर राज्यकी स्थापना की।[2] कतिपय

१—विर०, पृ० ८—११, मैकु पृ० १०७।

२—ओझा०, भा० ३ पृ० ७० और इहिंका० भा० ९ पृ० ५२१—३३।

रक्षाके लिये अपने शौर्यको प्रकट कर रहे थे। होयसलोंने काकतीय नरेशके साथ राष्ट्रकी रक्षाके लिये ही एक संघकी स्थापना की थी। अतः यह प्रतिभाषित नहीं होता कि हरिहर और उसके भाइयोंने होयसलसे बगावत करके अपनेको स्वाधीन शासक घोषित किया था। साथ ही एक शिलालेखसे यह स्पष्ट है कि होयसल नरेशोंमें सर्व अन्तिम विरूपाक्ष बल्लालका राज्याभिषेक हुआ था। अतः वह भी शासनाधिकारी रहे थे। हरिहरने सन् १३४६ के पहले 'महाराजाधिराज' पद धारण ही नहीं किया था। इसी कारण विद्वज्जन सन् १३४६ ई० से विजयनगर साम्राज्यका श्रीगणेश हुआ मानते हैं।

विजयनगरका प्रथम राजवंश (काकतीय नहीं।)

विजयनगरके आदि शासक हरिहरके राजवंशके विषयमें भी विद्वानोंमें मतभेद है। सीवेल, विल्सन आदि विद्वान् उनका सम्बन्ध काकतीय राजवंशसे स्थापित करते हैं। उनका कथन है कि हरिहर और बुक्क काकतीय नरेश प्रतापरुद्रदेवके कोषाध्यक्ष थे। किन्तु मुसलमानोंके वरंगल पर आक्रमण करने पर वह वीर बल्लालकी शरणमें पहुंचे थे। जिन्होंने इनको अपना 'महामंडलेश्वर' नियुक्त किया था। इसमें शक नहीं कि हरिहर और बुक्क वीर बल्लाल तृतीयके 'महामंडलेश्वर' सामन्त होकर रहे थे, परन्तु यह स्पष्ट नहीं कि वे काकतीय वंशमें उत्पन्न हुये थे। होयसलनरेश वीर बल्लालकी शत्रुता काकतीयनरेश [illegible] थी—तब भला बल्लाल अपने शत्रुके वंशजको कैसे महापद पर नियुक्त करते? अतः विजयनगर नरेशोंका सम्बन्ध [illegible]य राजवंशसे मानना ठीक नहीं है।[१]

१–विर०, पृ० [illegible] बम्बे ऐमीसो०, भा० २० पृष्ठ ५.

कदम्बवंशी भी नहीं।

रास सा० ने विजयनगर राजवंशकी उत्पत्ति कदम्बवंशके राजाओंसे अनुमान की थी; यद्यपि अन्तमें उन्होंने उनको यादववंशी स्वीकार किया था। कदम्बकुलसे उनका सम्बन्ध ठीक बैठता ही नहीं है क्योंकि हरिहरके भाई मारप्प द्वारा कदम्ब कुलके नाश किये जानेकी बात इस मान्यताके विरुद्ध पड़ती है। कोई भी व्यक्ति अपने हाथसे अपने कुलका नाश नहीं करेगा।[1] अतएव विजयनगर नरेश कदम्ब कुलके नहीं कहे जा सकते।

होयसलवंशसे सम्बन्ध।

स्वर्गीय हेरास, वेङ्कटरमणय्य और कृष्ण शास्त्री प्रभृति विद्वान विजयनगर नरेशोंको होयसल सम्राटोंके सामन्त रूपमें उदय हुये मानते हैं किन्तु श्री रामशर्मा इसके विपरीत विजयनगर साम्राज्यको कम्पिल राज्यके भग्नावशेषों पर खड़ा हुआ घोषित करते हैं। वे इस प्रसं-गमें यह बात यह भूल जाते हैं कि मुहम्मदतुगलकके आक्रमणमें कम्पिल बिलकुल नष्ट हो गया था। इसके बाद उसका अस्तित्व ही न रहा।[2] किन्तु होयसल राज्यके सम्बन्धमें यह बात नहीं हुई। वहाँके नृप इस-आक्रमणके बाद भी अपनी सत्ताको स्थिर रख सके और मदुराके मुसलमानोंसे उन्होंने मोर्चा लिया था। इस अवस्थामें यह मानना पड़ता है कि होयसल राजाओंकी ही राजसत्ता उस समय दक्षिण

१–पि० पृ० ३ और मैसू० पृ० १११ २–हमीदे स्मा० २ पृ० ९–१४ ३–कम्पिलनरेश राजाओंके साथ हमारा गहरा सम्बन्ध अवश्य रहे थे; किन्तु हरिहर और बुक्क उनके वंशज नहीं रहे थे।

भारतमें अन्त तक सर्वोपरि रही थी। हरिहर और बुक्क उन्हींके महामंडलेश्वर थे। होय्सल राजवंशके समाप्त होने पर ही उन्होंने शासन भार संभाला था और विजयनगर राज्यकी स्थापना की थी। अत. यही युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि हरिहर आदि विजयनगर नरेशोंका राजवंश भी वही था जो होय्सल नरेशोंका था।

संगम (यादव) राजवंश।

होय्सलनरेश अपनेको यादव-कुल-चन्द्र श्रीकृष्णका वंशज और द्वारावती पुरवराधीश्वर घोषित करते थे।[1] हरिहर और बुक्कने भी अपनेको यादव राजकुलसे उत्पन्न या कृष्णके वंशज लिखा है। वे संगम नामक राजाके पुत्र थे।[2] अत यह मानना ठीक है कि विजयनगरके राजा यादवकुलोत्पन्न होय्सल राजवंशसे संबंधित थे।

संगमनरेश।

विजयनगर राज्यके आदि शासक और संस्थापक हरिहर एवं बुक्कके पिता संगमनरेश थे। उनके नामकी अपेक्षा यह राजवंश 'संगम' नामसे प्रसिद्ध हुआ था। संगम चन्द्रवंशी यादव नरेश थे। उनके पिताका नाम अनन्त और माताका नाम मेघाम्बिका था।

१-मजैस्मा०, भा० २ खंड ४।

२-"सोमवंश्या यत ख्याता यादवा इति विश्रुता।
तस्मिन् यदुकुले श्लाघ्ये सोऽभूच्छ्री संगमेश्वर ॥
येन पूर्वविधानेन पालिता सकला प्रजा।"
—डि०का नेल्लोर दानपत्र, ए०इ०, पृ० ४०.

कह नहीं सकते कि विजयनगर संस्थापक हरिहरके पिता संगम और यह सगम एक व्यक्ति हैं।

मूलग्राम और विजयनगर।

कहा जाता है कि सगमका मूलस्थान मैसूरके पश्चिमी भागमें 'कशास' नामक स्थान था।[१] अत पश्चिमी मैसूरसे आकर हरिहर और बुक्क कर्णाटककी राजनीतिका सचालन करने लगे और अन्त विजयनगरके संस्थापक और पहले शासक हुये। जहां पर पहले अनगुन्डि नामक छोटासा नगर बसा हुआ था, वहां पर ही इन्होंने विजयनगर या विजेयानगरकी नींव डाली।[२] अनगुन्डिके पूर्वी और दक्षिणी दिशाओंमें तुङ्गभद्रा नदी बहती थी। विजयनगर वहां ही बसाया गया। उसकी स्थापना हिन्दू राष्ट्रकी विजय और समृद्धिके लिये की गई थी। इसलिये उसका नाम विजयनगर रखना उचित ही था। शिलालेखोंमें उसका उल्लेख विजेयानगर[३], विद्यानगर[४] और हस्तिनावती[५] नामसे भी हुआ है। अनगुण्डिको हस्तिकोण भी कहते थे।[६] और विजयनगरकी स्थापना अनगुण्डि स्थान पर हुई, इसीकारण उसका दूसरा नाम हस्तिनावती भी हुआ। किन्तु विद्यानगर तो वह बादमें कहा गया प्रतीत होता है, जब कि माधवाचार्य विद्यारण्यका सम्बन्ध हरिहरसे जोड़ा गया। निस्सन्देह हरिहर और बुक्क कट्टर

१–विह०, पृष्ठ २४ २–जमीसो०, भा० २० पृष्ठ २८४.
३–ASM, 1939, p 155 नगेहीहकका शिलालेख न० ४१.
४–ASM, 1940, p 148. ५–ASM, 1943, p 183. नमरताझुक न० २३ ६–ASM, 1932, p 107.

विद्यारण्य द्वारा पुनरोद्धार होनेके कारण ही विजयनगर विद्यानगर नामसे प्रसिद्ध हुआ प्रतीत होता है ।

विजयनगरका वैभव ।

विजयनगरका वैभव महान् था वह लोकके महान् नगरोंमेंसे एक था । आजकल उसे हम्पि कहते हैं । मद्रास प्रान्तके वर्तमान बल्लारि जिलेके अन्तर्गत होसपेटे तालुकेमें वह हम्पिग्राम है। वास्तवमें विजयनगरके ध्वंशावशेषका प्रतीक ही हम्पि है, जो नौ वर्गमीलमें फैले हुए हैं। दूर-दूरसे यात्री और व्यापारी उस नगरका विशाल रूप देखने आते थे, परन्तु आज वह धराशायी है । उसका पूर्व वैभव उसके खण्डहरोंमें छुपा पड़ा है । उसके अनूप रूपको देखकर विदेशोंके यात्री दंग रह जाते थे। सन् १४४२ ई० में अब्दुलरज्जाक नामक यात्री विजयनगर देखने आया था । उसने लिखा था कि वैसा नगर कहीं दृष्टिमें नहीं आया और न उसकी बराबरीका कोई नगर दुनियांमें सुनाई पड़ा । वह नगर सात कोटोंमें बसा हुआ था । सातवें कोटमें राजमहल थे । प्रत्येक वर्गके व्यापारी वहां मौजूद थे । हीरा, मोती, लाल आदि जवाहरात खुले बाजार बिकते थे। अमीर और गरीब सभी जवाहरातके कंठे, कुण्डल और अंगूठियां पहनते थे ।[1] पन्द्रहवीं शताब्दिमें दमश्क (सिरिया) से निकोकोॅन्टि (Nicolo Conti) नामक एक

---

1 "The city of Bidjanagar is such that pupil of the eye has never seen a place like it, and the ear of intelligence has never been informed that there existed anything to equal it in the world. It is built in such a manner that seven citadels and the same number of walls enclose each other etc." Major pp. 23-26.

पर्य्यटक भारत आया था। उसने भी विजयनगर देखा था। विजय-
नगरको वह पर्वतोंके निकट बसा हुआ विद्यानगर बताता है।
उसने लिखा है कि विजयनगर साठ मीलके घेरेमें बसा हुआ था और
उसकी दीवारें पर्वतोंसे सटी चली गयी थीं—बहुत ऊंची थीं।[1] यहांकी
सड़कों तक पर बहुमूल्य पत्थर लगे हुये थे। १४ वें श्लोक विजयनगरकी
विशालता और विभूतिका बखान स्पष्ट करते हैं। इस नगरमें अनेक
जिनमंदिर शोभायमान थे; जिनमेंसे कुछ अब भी मौजूद हैं। यही
संगमराजवंशकी और उसके उत्तराधिकारियोंकी राजधानी थी। मालूम
होता है कि *विजयनगरका निर्माण नहीं हुआ था,* तबतक हरिहर
और बुक्क महाराजोंकी राजधानी द्वारा समुद्र (हलेबिड) से ही शासन
करते रहे थे।

हरिहर प्रथम।

संगमके पांच पुत्र—१ हरिहर २ कम्पण ३ बुक्क, ४ मारप्प
और ५ मुद्दप्प नामक थे। इनमें हरिहर सर्वश्रेष्ठ और विजयनगरके
संस्थापक थे। *फिरिश्तेने लिखा है कि* उधरके मुसल्मानी आक्रमणकी
आशंकासे वीर बल्लालने अपने सामन्तोंकी एक भारी सभा की।[2]
इसी सभामें हरिहर और उसके भाइयोंको विधर्मियोंके आक्रमणोंको
निष्फल करनेका भारी कार्य सौंपा गया था। विजयनगरकी किले-
बंदी की गई और महामंडलेश्वर स्वयं हरिहर नियत किये गये।
चिक्कमुन्ठकी मसजिदसे स्पष्ट है कि हरिहरने किसी मुसल्मान सुल्तानको

१–Major Pt., II P 6 ... वैदिक ... १०६ ४।
२–वीर पृ० ३५–३६।

प्राप्त किया था।[1] हरिहरकी वीरताका परिचय इस महती कार्यसे व्यक्त होता है। बल्लालोंके राज्यकालमें हरिहर सामन्त रूपमें ही शासन करते रहे। उनके सुचारु शासन प्रबंध और दुर्दम्य शौर्यने उन्हें जनप्रिय बना दिया। अत होय्सल राज्यकी समाप्ति पर हरिहर ही जनताके निकट मान्य शासक हुये। संगम राजवंशके वह पहले नरेश और विजयनगर राज्यके संस्थापक हुये। हरिहरकी सत्ताको दक्षिण भारतके प्रायः सभी छोटे शासकोंने मान्य किया था। उसके भाइयोंने भी उसे अपना सम्राट् स्वीकार कर लिया था। वे सब उसके शासनमें प्रांतोंके अधिपति रहे थे। कम्पण दक्षिण पूर्वका अधिपति था। बुक्क द्वारासमुद्रमें शासनाधिकारी था। मारप्पा प्राचीन बनवासी राज्यका शासन प्रबंध करता था। होय्सलके आधीन जो शासक थे उनमेंसे कतिपय शासक कदम्ब, कोंकण, तेलेगु और मदुराके मुसलमान शासकोंसे मिलकर विद्रोही हुये थे और दिल्लीके तुगलक सुल्तानने भी हरिहरको परास्त करनेका प्रयास किया था, परन्तु यशस्वी वीर हरिहरने उन सबको परास्त करके देशमें सुख और शांतिको स्थापित किया था। अंग कलिंग और पांड्य देशोंमें भी उनकी सत्ता मान्य हुई थी। इसप्रकार तुङ्गभद्रासे लेकर पांड्य देश तक समस्त भाग हरिहरके आधीन रहा था। सन् १३५४ ई० में बुक्कको उसने अपना युवराज बनाया था। उसने अपने भ्राताओंके सहयोगसे सन् १३४६ ई० से १३५५ ई० तक सुचारुरूपमें शासन किया था। सन् १३५५ में वह स्वर्गवासी हुआ था।[2]

१–'तत्र राजा हरिहरो धरणीमधिपक्षिराम्। सुत्राणहद्यो येन सुरत्राणाः पराजित. ॥' (प० इ० २)। २–मिर० पृ० २८–२९।

हरिहरके शासनमें जैनधर्म।

यद्यपि हरिहरनरेश विरूपाक्षदेवके भक्त थे परन्तु उनके शासनकालमें जैनधर्मको भी आश्रय मिला था। विजयनगर सम्राटोंने समुदार नीति धारण की थी—उनके निकट सब धर्मोंको ही संरक्षण प्राप्त था, वे मुसल्मानोंके विरोधी थे। जैनधर्मको भी उनके निकट प्रश्रय मिला था। हरिहर प्रथमके शासनकालमें बेलारी जिलेका रायदुर्ग नामक स्थान एक प्रमुख जैन केन्द्र था। यहाँ मूलसंघके आचार्य प्रसिद्ध थे। सन् १३५५ ई० में मोगराज नामक जैन व्यापारीने शान्तिनाथ जिनेन्द्रकी प्रतिमा यहाँ प्रतिष्ठित कराई थी और बसदि बनवाया था। सारस्वतगच्छ बलात्कारगण और कोण्डकुन्दान्वयके अमरकीर्ति आचार्यके शिष्य माघनन्दि आचार्य मोगराजके गुरु थे। इस जैनोंको अपना धर्म पालने और उसका प्रचार करनेकी पूर्ण सुविधा प्राप्त थी। हरिहरके सम्बन्धी भी कई जैन थे जिनको उन्होंने अपने आधीन महामण्डलेश्वर नियत किया था। हरिहरने अपनी इकलौती बेटीका विवाह जैन राजकुमार बाचप्प दण्डनायकके साथ किया था। कुछ समयके जैन राजाओंको सब ही अधिकार उन्होंने प्रदान किये थे। गर्ज यह कि विजयनगर राज्यमें जैनोंको प्रारम्भसे ही सम्मान और संरक्षण प्राप्त था।

बुक्कराय प्रथम।

हरिहरके उत्तराधिकारी उनके भाई बुक्क हुये जो सन् १३५७में

१–अनेकान्त पृ २२८–२९। २–मेजै पृ ३१८। ३–दक्षिण पृ २२८। ४–जैसिभा भा० ५ पृ १२३।

हरिहरकी मृत्युके पश्चात् राजसिंहासनपर बैठे थे। वैसे वह बल्लाल तृतीयके समयसे ही राज्यके दक्षिणी भागका शासन प्रबंध करते थे। हरिहरकी मृत्युके साथ ही तेलुगू प्रांतमें विद्रोह प्रारम्भ होगया था, किन्तु प्रतापी बुक्कने इन विद्रोहियोंको शीघ्र ही परास्त कर दिया था। बुक्कके युद्ध-कौशल और तलवारकी चमचमाहटसे शत्रुओंके दिल दहल जाते थे। बुक्कने आंध्र, अङ्ग और कलिङ्ग पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। परन्तु बुक्कका अधिक समय बहमनी राज्यके प्रसिद्ध शासक मुहम्मदशाह (सन् १३५८-१३७७ ई०) से युद्ध करनेमें बीता था। पहले बुक्कने मुसलमानोंको परास्त करके उनके कई किलोंपर अधिकार जमा लिया था, किन्तु बादमें दौलताबादके नवाबकी सहायता पाकर मुसलमान कामयाब होगये थे। सत्तरहजार हिन्दू इस युद्धमें मारे गये थे। बुक्कको यह युद्ध मुसलमानोंके अत्याचारोंके कारण ही लड़ना पड़ा था। आखिर दोनों शासकोंमें संधि होगई थी। उन्होंने महाराजाधिराजकी पदवी धारण करके अपने नामके सिक्के भी चलाये थे।

१ विजयनगर साम्राज्यकी स्थापनासे १० वर्षों बाद ही सन् १३६१ ई० में जैनधर्म विषयक एक धार्मिक विवाद उठ खड़ा हुआ था। इस विवादका निपटारा जिस निष्पक्षभावसे किया गया उससे यह छिपा नहीं रहा कि विजयनगर साम्राज्यके अन्तर्गत जैनियोंके अधिकार सुरक्षित हैं—विजयनगर सम्राटोंका राजधर्म भले ही वैदिक मत था, परन्तु उनके द्वारा जैनधर्ममें हस्तक्षेप होनेका कोई भय नहीं था। हरिहरराय प्रथमका पुत्र विरुपाक्ष ओडेयर मलेराज्य प्रान्त पर महामण्डलेश्वर रूपसे शासन कर रहा था। यह विवाद उसीके सम्मुख उपस्थित हुआ। विवाद हेद्दूरनाडके अन्तर्गत तट्टहल्लि नामक स्थानके प्राचीन जैन मंदिर पार्श्वनाथ बस्ति की जमीनसे सम्बन्ध रखता था। हेद्दूरनाडकी वरिष्ठमतावलम्बी जनता इस जमीन पर अपना अधिकार जमा रही थी। राजाने इस मामलेकी जाँच करनेकी आज्ञा दी और मलेराज्यकी राजधानी आरगकी चावड़ी (कोषागार) में मामलेकी जाँच पड़ताल की गई। इसमें दोनों पक्षके प्रमुख पुरुष बुलाए गये थे। महाप्रभु आदि जैन नेताओंने उपस्थित होकर अपने दावाको प्रमाणित किया। अन्तमें सर्वसाधारण जनताकी सम्मतिसे प्राचीन प्रथाके अनुसार ही मन्दिरकी जमीनकी सीमायें निश्चित कर दी गईं और उनकी और जायदाद भी सुरक्षित बना दी गई। सर्व सम्मतिसे यह निर्णय शिला पर खुदवा दिया गया।

वैष्णवों और जैनोंमें सन्धि ।

१ उपर्युक्त घटनाके केवल पाँच वर्ष बाद ही बुक्काराय प्रथमके

१—एपि० कर्ना० ८ १ १—२ ७ नं० ... पृ० १८७—१८८

समक्ष भी एक ऐसी ही साम्प्रदायिक समस्या उपस्थित हुई। सन् १३६८ ई० के एक शिलालेखसे पता चलता है कि उस समय जैनों (भव्यों) और श्री वैष्णव (भक्तों) में आपसी तनातनी होगई थी। वैष्णवोंने जैनियोंके अधिकारोंमें कुछ हस्तक्षेप किया था। इस पर आनेगोण्डि, होसपट्टण, पेनुगोण्ड और कल्लेहनगर आदि सब ही नाडुओं (जिलों) के जैनियोंने मिलकर सम्राट्की सेवामें न्यायको प्रार्थना की थी। देवरायने अठारह नाडुओं (जिलों) के श्रीवैष्णवों और कोविल, तिरुमले, कांची, मेल्कोटे आदिके आचार्योंको एकत्रित किया और उनको आपसमें मेलसे रहनेका आदेश दिया था। नरेशने जैनियोंका हाथ वैष्णवोंके हाथपर रखकर कहा कि धार्मिकतामें जैनियों और वैष्णवोंमें कोई भेद नहीं है। जैनियोंको पूर्ववत् ही पञ्चमहावाद्य और कलशका अधिकार है। जैन दर्शनकी हानि और वृद्धिको वैष्णवोंको अपनी ही हानि व वृद्धि समझना चाहिये। श्री वैष्णवोंको इस विषयके शासन लेख सभी देवालयोंमें स्थापित कर देना चाहिये। जबतक सूर्य और चन्द्र है तबतक वैष्णव जैनधर्मकी रक्षा करें। देवरायका यह शासन सभीको मान्य हुआ। इस निष्पक्ष न्यायका विवरण श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १३६ (३४४) शक सं० १२९० में अङ्कित है।[1] इसके अतिरिक्त लेखमें कहा गया है कि प्रत्येक जैनगृहसे कुछ द्रव्य प्रति वर्ष एकत्रित किया जायगा जिससे बेल्गोलके देवकी रक्षाके लिये बीस रक्षक रक्खे जावेंगे व शेष द्रव्य मंदिरोंके जीर्णोद्धारादिमें खर्च

---

[1]-जैशिसं०, पृ० २६३-२६५ व मेजै०, पृ० २८९

किया जावेगा। जो इस शासनका उल्लंघन करेगा वह राज्यका (जैन) संघका और (वैष्णव) समुदायका द्रोही ठहरेगा ' इस राजशासनका परिणाम यह हुआ कि जैन और वैष्णव प्रेमपूर्वक रहने ही नहीं लगे बल्कि एक दूसरेके धार्मिक कार्योंमें सहयोगी भी हुये; क्योंकि इसी लेखके अन्तमें लिखा हुआ है कि कल्लेहके हरिसेट्टीके पुत्र बसुविसेट्टिने बुक्करायको प्रार्थना करके तिरुमलैके तातय्यको बुलाया और इस शासनका जीर्णोद्धार कराया था। जैन और वैष्णवोंने मिलकर बसुविसेट्टीको 'संघनायक' की पदवी प्रदान की थी। जैन और वैष्णवोंने एक स्वरसे 'जैनधर्मकी जय' का नारा लगाया था। यवनोंसे धर्मायतनोंकी रक्षाके लिए दोनों ही सम्प्रदायवाले कटिबद्ध होगए थे और आपसी वैमनस्यको भूलकर संगठित हुये थे।

राष्ट्रीय संगठन और मतसहिष्णुता।

साम्प्रदायिक पक्षपातका अन्त करके परस्पर संगठन करनेकी यह भावना उस समय वैष्णव शैव जैन—सभीके हृदयोंमें हिलोरें ले रही थी। यवनोंसे अपने धर्म और देशकी रक्षा करनेका जोश हृदयोंमें उमड़ा हुआ था। इसका उदाहरण श्रवणबेलगोलके शान्तीश्वर बस्तीके स्तम्भ लेखमें देखनेको मिलता है। उसमें कहा गया है कि 'यमादि योग गुणोंके धारक, गुरु और देवोंके भक्त, कलियुगकी कालिमाके नाशक अकलंकदेव सिद्धान्तके अनुयायी, व्यापारियोंके मित्र, नोंके नियामक सात करोड़ भीडमोंमें एकत्रित होकर मूलसंघ, देशीगण, पुस्तक गच्छके अध्यक्षके शिष्यको चारोंदि विशाखकी स्थापि

१—मिडिवल जैनिज्म पृ० १ २९-१०१ २—ऐपीग्राफिका, ई० २९८

तथा पञ्चमहावाद्यका अधिकार प्रदान किया।" और घोषित किया कि "जो कोई इसमें 'ऐसा नहीं होना चाहिये, कहेगा वह शिवका द्रोही ठहरेगा।'[१] पारस्परिक सौहार्द और मतसहिष्णुताका यह कैसा सुन्दर उदाहरण है? इसमें मूल कारण विजयनगर सम्राटोंकी उदार नीति और समभाव दृष्टि थी। निस्सन्देह बुक्करायके राज्यकालमें शैव, वैष्णव तथा जैन धर्मोंका प्रचार निर्विघ्न रूपसे हुआ था।

हरिहर द्वितीय।

बुक्करायके पश्चात् उसका जेठा पुत्र हरिहर द्वितीय लगभग सन् १३७९ ई०में विजयनगर साम्राज्यका अधिकारी हुआ। इस वर्षके उसके सर्व प्रथम लेखमें हरिहर द्वि०का सम्बोधन 'महाराजाधिराज राजपरमेश्वर' रूपमें हुआ है। संगमवंशका यह पहला शासक था जिसने राजसिंहासन पर बैठते ही सम्राट्की महान् पदवी धारण की थी। इसकी माताका नाम गौरी था। सायणाचार्य हरिहरके भी राजमंत्री रहे थे। बहमनी सुलतानोंसे हरिहरका भी घोर युद्ध हुआ था, जिसमें हिन्दुओंको करारी चोट खानी पड़ी थी। हरिहरने चालीस लाख रुपया देकर बहमनीके शासकको शान्त किया था। उपरान्त हरिहरने चोल, चोर और पाण्ड्य राजाओंको परास्त किया था। इस विजयोपलक्षमें वह 'शार्दूलमदभंजन' कहलाया था। हरिहरका राज्य सुदूर दक्षिण तक विस्तृत होगया था। मुसलमान शासकोंसे सफल मोर्चा लेनेके लिये विजयनगर सम्राट्का इस प्रकार शक्तिशाली होना उचित ही था। हरिहरने अपने इस विशाल राज्यको कई

१-मेडिव०; भूमिका पृ०

प्रान्तोंमें बाँट कर सुव्यवस्थित शासन व्यवस्था की थी। उसके लेखोंमें निम्नलिखित प्रान्तोंका उल्लेख हुआ मिलता है—(१) उदयगिरि राज्य, (२) [illegible] (३) गुत्ती राज्य (४) मलेय (पश्चिमीतटवासी) राज्य, (५) मुलुवाय तथा (६) राज्य गम्भीराय। इन प्रान्तोंपर उसने अपने राजकुमारों और प्रतिष्ठित व्यक्तियोंको प्रान्तीय शासक नियत किया था। हरिहरका शासन प्रबन्ध इतना सुव्यवस्थित था कि उसकी ख्याति चारों ओर फैल गई थी।[१]

हरिहर द्वि० के धर्मकार्य।

हरिहरके द्वारा भारतीय संस्कृतिके अभ्युदयका प्रयास हुआ था। वह स्वयं शैव और 'विरूपाक्ष' का पुजारी था; परन्तु अन्य मतोंके प्रति भी वह उदार था। वैदिक मतके उत्कर्षके लिए हरिहरने जो कार्य किया उसके कारण वह 'वैदिकमार्ग-स्थापनाचार्य' और 'चतुर्वर्णा-श्रमपालक' कहलाता था। वह अपने समयका एक बड़ा दानवीर राजा था। उसने जैनधर्मोत्कर्षके लिए मूडबिद्री और जैन मंदिरोंको दान देकर अपनी धर्मसहिष्णुताका परिचय दिया था।[२] हरिहरके कई राजकर्मचारी भी जैन थे। हरिहरके राज्यकालमें [illegible] मधुर नामक जैन विद्वान् राजकवि थे, जिनका एक विरुद [illegible] चूड़ामणि था।[३] वीर हरिहरकी एक रानी जिनका नाम बुक्के था जैनधर्मसे प्रभावित हुई थी।[४] उन्होंने [illegible] द्वारा

१-विर० पृ० ४१-४५। २-विर० पृ० ४५-४६। ३-[illegible] ऑव लाइफ इण्डिया भाग २ (मीडेवल)। ४-मेजै० पृ० १५-२६। ५-मेजै० पृ० १०६। ६-मेजै० पृ० ११४ २९९ व

निर्मापित जिनमंदिरके लिये दान दिया था। इस प्रकार हरिहरायके शासनकालमें भी जैनधर्म अपने पूर्व गौरवको प्राप्त करनेमें सफल हुआ था। श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १२६ (३२९) से हरिहर द्वि० की मृत्यु भाद्रपद कृष्णा दशमी सोमवार शक संवत् १३२६ (सन् १४०४) को हुई प्रमाणित है।[1]

बुक्क द्वि० व देवराय प्रथम।

सन् १४०४ ई० के पश्चात् हरिहरका ज्येष्ठ पुत्र देवराय प्रथम विजयनगर साम्राज्यका अधिकारी हुआ।[2] किन्तु किन्हीं विद्वानोंका यह भी मत है कि देवरायसे पहले उसके भाई बुक्कराय द्वितीयने केवल दो वर्ष (सन् १४०४ से १४०६ ई०) राज्य किया था।[3] उसके पश्चात् देवराय प्रथमने सन् १४०६ ई० से सन् १४२२ ई० तक शासन किया था। बुक्कराय द्वितीयने मूडविदुरीकी 'गुरुगल-बस्ति' नामक जैन मंदिरके लिये दान दिया था।[4] सेनापति इरुगप्पने चिंगलपेटके जिलेके एक जैन मंदिरके लिये बुक्करायके पुण्य निमित्त दान दिया था, जब कि वह राजकुमार थे।[5] सारांशतः बुक्क द्वितीय भी जैनोंपर सदय हुये थे।

देवरायका दैनिक जीवन।

बुक्करायके अल्पकालीन शासनके पश्चात् देवराय प्रथम शासनाधिकारी हुये। वह रंगीली तबियतका शासक था। विषयवासनामें

सन् १४१२ ई० में देवरायके पुत्र राजकुमार हरिहरने विजयनगरमकी चन्द्रनाथवस्तिको दान दिया था।[1] उन्होंने कनकगिरिके जैन मंदिरको भी मलेयूर ग्राम भेंट किया था।[2] रानी भीमादेवीके कारण ही देवराय प्रथम जैन गुरुओंकी ओर आकृष्ट हुये थे, जिसके कारण उनका जीवन व्यवहार ही बदल गया था। जैनधर्मको उन्होंने बड़े सन्मानकी दृष्टिसे देखा था। हुम्बकी पद्मावती–बस्तिके शिलालेखसे प्रगट है कि वर्द्धमान मुनिके प्रमुख शिष्य धर्मभूषण गुरु एक महान् व्याख्याता और मुनियों एवं राजाओं द्वारा सेव्य थे। उनके चरणकमल राजाधिराज परमेश्वर सम्राट् देवराय (प्रथम)के राजमुकुटसे प्रभायुक्त हुये थे।[3] अत, मालूम होता है कि रानी भीमादेवी और राजमंत्री इरुगप्पके प्रयत्नसे सम्राट् देवराय (प्रथम) का अन्तिम जीवन शान्ति और धर्ममय बन गया था। सन् १४२२ ई०में उनकी मृत्यु होगई थी।

विजयराय।

देवरायके पश्चात् उनके पुत्र विजयरायने कुछ काल तक शासन सूत्र संभाला था। उसने बहमनी नवाबको वार्षिक कर देना बन्द कर दिया था, जिससे चिढ़कर सन् १४२३ ई०में अहमदखांने विजयनगर पर चढ़ाई करदी थी। हिंदू सेना इसबार भी मुसल्मानोंका मुकाबिला न कर सकी। हिन्दुओंकी क्षति हुई और बहुतसे हिंदू, मुसल्मान बना लिये गये। इस दुर्गतिमें विजयने अहमदखांसे संधि की और पिछला सब कर अदा किया और बहुत सा धन अहमदखांको दिया। राज्यमें प्रजा दुखी रही।[4]

१–मेजै०, पृष्ठ ३२९, २–मेजै०, पृ० ३२९, ३–मेजै०, पृ० २९९
४–पृ० ४८–४९ ...

महान् शासक देवराय द्वि०।

विजयके पश्चात् उसका पुत्र देवराय द्वितीय विजयनगरके राजसिंहासनपर सन् १४२२ ई० में आरूढ़ हुआ था। देवरायने विजयनगर राज्यका गौरव और विस्तार बढ़ाया था। उसका राज्य समस्त दक्षिण भारतमें कृष्णाके समीपतक फैला हुआ था। इसी आत्मरक्षा भार उसके भाईको और शेष दक्षिणका राजकार्य उसके मंत्री लक्ष्मणको सौंप गया था। वह एक आदर्श शासक था। उसके शासनकालमें साम्राज्यकी एवं देशकी विशेष उन्नति हुई थी। देवराय स्वयं विद्वान् थे और पंडितोंका आश्रयदाता था। प्रजाके सुख-दुखका उसे पूरा ध्यान था। उसने राज्यमें प्रचलित वैवाहिक कर बन्द कर दिया था और खेतीकी उन्नतिके लिये नहरें खुदवाई थीं। शिक्षा प्रचारके लिये भी देवरायने दान दिये थे। उनके प्रमुख राजमंत्री इरगप्प जैन थे और उन्होंने विजयनगर राज्यको शक्तिशाली बनानेमें पूरा भाग लिया था।

युद्ध और शासनप्रबन्ध।

देशके प्रत्येक हिन्दूको विजयनगर राज्यकी मुसलमानों द्वारा क्रमबद्ध आक्रमण रक्षक रही थी—बहमनी बादशाहोंसे हारकर विजयनगर राजाओंको अपमान सन्धियाँ करनी पड़ी थीं। फलतः इस दुखको राजाने भी भोगा और अपनी कमजोरीको भी उन्होंने पहिचाना। राज्यकालसे दस हजार तुर्की घुड़सवार और दो हजार धनुषधारी सेनामें भर्ती किये गये जिनका काम हिन्दू सैनिकोंको धनुर्विद्याकी शिक्षा देना था। इन मुसलमानोंके संतोषके लिये देवराय अपने राजसिंहासनके समीप कुरानकी पुस्तक रखते थे। उनके लिये उन्होंने मस्जिद

भी बनवा दी थी। दोहजार मुसलमान धनुर्धारियोंने साठ हजार हिन्दू सैनिकोंको धनुषबाण चलानेमें निष्णात बनाया था। इस प्रकार देवरायने विशाल और सुदृढ सेना तैयार कर ली और उसे लेकर वह सन् १४४३ ई० को रायचूर द्वाबपर चढ़ गया। देवरायने मुद्गल, रायचूर और बंकापुरके प्रसिद्ध किले जीत लिये और कृष्णा नदी तक अधिकार जमा लिया। बल्कि बीजापुर और सागरतककी पृथ्वीको रौंद डाला। विजयनगरको यह जीत बहुत महंगी पड़ी—इसमें विजयनगरके कई राजकुमार काम आये और जन धनकी भी विशेष हानि हुई। इस जीतसे चिढ़कर मुसलमानी सेनाने अधिक जोर दिखाया। हठात् देवरायको मुसलमानोंसे सन्धि करना पड़ी।

विदेशी यात्री।

देवरायके शासन कालमें इटलीसे निकोलो कॉन्टि (सन् १४२१) और ईरानीदूत अब्दुलाज्जाक (सन् १४४२) दो यात्री भारत आये थे और वे विजयनगरमें भी रहे थे। उन्होंने विजयनगरको किलों, मन्दिरों और सुन्दर महलोंसे सुसज्जित पाया था। भारतके समस्त नरेशोंमें देवराय सबसे अधिक शक्तिशाली थे। राजाकी हजारों रानियां थीं। निकोलो-कॉन्टि तत्कालीन भारतको तीन भागोंमें बंटा हुआ बताता है अर्थात्–(१) ईरानसे सिन्धु नदी तक, (२) सिन्धु तटसे गंगा तक और (३) अवशेष भारत। अवशेष भारतको वह धनसम्पत्ति और संस्कृतिमें सबसे बढ़ा चढ़ा लिखता है। भारतीयोंका जीवन उसने यूरुपवासियों जैसा ही उन्नत और उत्कृष्ट

* १ ।

आज्ञानुसार उन्होंने 'वैश्यवंशसुधार्णव' नामक ग्रन्थ रचा था, जिसमें वैश्य, नगर-वणिक, वणिज, वाणि, व्यापारी, अरुन, तृतीयजाति, स्वजातीयभेदज उत्तरापथनगरेश्वर, देवतोपासक आदि शब्दोंका विस्तृत विवेचन करके यह सिद्ध किया था कि वे लोग कोमटिसे भिन्न हैं। काञ्चीके एक शिलालेखमें इन शब्दोंका प्रयोग हुआ था। विजयनगरकी वैभव वार्ता और व्यापारिक समृद्धिकी बातें सुनकर बहुतसे व्यापारी उत्तर भारतसे वहा पहुचे थे। उत्तर और दक्षिणके व्यापारियोंमें जब मतभेद उपस्थित हुआ, तब देवरायने उसका निर्णय करनेके लिये मल्लिनाथसूरिको नियुक्त किया था। और उन्होंने अन्वेषण करके उपर्युक्त पुस्तक लिखी थी।[1] समाज शास्त्रके इतिहासके लिए यह पुस्तक महत्वपूर्ण है। विजयनगर सम्राट्ने देशको हरप्रकार उन्नत बनानेमें जैन अजैन सब ही विद्वानोंका सहयोग प्राप्त किया था। इससे स्पष्ट है कि देवराय प्रजाके सुख दुखका पूरा ध्यान रखता था। विदेशोंसे व्यापार करनेकी सुविधायें उसने व्यापारियोंको दी थीं। अरब और ईरानके अतिरिक्त पुर्तगालसे भी व्यापार सम्बंध स्थापित किये थे। सारांशतः देवरायके शासनकालमें देश विशेष समृद्धिशाली बना था।[2] सन् १४४६ ई०में देवरायकी मृत्यु क्या हुई, संगमवंशका सूर्य ही अस्त होगया। उसके पश्चात् संगमवंशकी अवनति प्रारम्भ होगई।

मल्लिकार्जुन व विरुपाक्ष।

देवरायके पश्चात् उसके दोनों पुत्रों अर्थात् (१) मल्लिकार्जुन और (२) विरुपाक्षने सन् १४४९ ई०से सन् १४७० ई० तक

[1] ... पृ० ३०७-३०९। [2]-गैजेटिर ऑव दी बॉम्बे प्रेसीडेंसी, पृ० ६१-६२.

आज्ञानुसार उन्होंने 'वैश्यवंशसुधार्णव' नामक ग्रन्थ रचा था, जिसमें वैश्य, नगर-वणिक, वणिज, वाणि, व्यापारी, भरुन, तृतीयजाति, स्वजातीयभेदज, उत्तरापथनगरेश्वर, देवतोपासक आदि शब्दोंका विस्तृत विवेचन करके यह सिद्ध किया था कि वे लोग कोमटिसे भिन्न हैं। काञ्चीके एक शिलालेखमें इन शब्दोंका प्रयोग हुआ था। विजयनगरकी वैभव वार्ता और व्यापारिक समृद्धिकी बातें सुनकर बहुतसे व्यापारी उत्तर भारतसे वहां पहुंचे थे। उत्तर और दक्षिणके व्यापारियोंमें जब मतभेद उपस्थित हुआ, तब देवरायने उसका निर्णय करनेके लिये मल्लिनाथसूरिको नियुक्त किया था। और उन्होंने अन्वेषण करके उपर्युक्त पुस्तक लिखी थी।[1] समाज शास्त्रके इतिहासके लिए यह पुस्तक महत्वपूर्ण है। विजयनगर सम्राट्ने देशको हरप्रकार उन्नत बनानेमें जैन अजैन सब ही विद्वानोंका सहयोग प्राप्त किया था। इससे स्पष्ट है कि देवराय प्रजाके सुख दुखका पूरा ध्यान रखता था। विदेशोंसे व्यापार करनेकी सुविधायें उसने व्यापारियोंको दी थीं। अरब और ईरानके अतिरिक्त पुर्तगालसे भी व्यापार सम्बन्ध स्थापित किये थे। सारांशत देवरायके शासनकालमें देश विशेष समृद्धशाली बना था।[2] सन् १४४६ ई०में देवरायकी मृत्यु क्या हुई, संगमवंशका सूर्य ही अस्त होगया। उसके पश्चात् संगमवंशकी अवनति प्रारम्भ होगई।

मल्लिकार्जुन व विरुपाक्ष।

देवरायके पश्चात् उसके दोनों पुत्रों अर्थात् (१) मल्लिकार्जुन और (२) विरुपाक्षने सन् १४४९ ई०से सन् १४७० ई० त[illegible]

१-मैजै०, पृ० ३७७-३७९। २-गैजेटिर ऑव दी बॉम्बे प्रेसी[illegible] १ [illegible] २ पृ० ११-६२

कि विजयनगरके सगम राज्यमें तिप्पके भाई गुण्डको दक्षिण भागका शासनभार सौंपा गया तभीसे यह चन्द्रगिरिमें रहकर शासन करते थे। नरसिंह एक प्रतापी नरेश था। उसने ओडीसाके राजा पुरुषोत्तम और मुसलमानोंके आक्रमणोंको विफल किया था। किन्तु वह सब ही प्रान्तीय नायकोंको अपने आधीन नहीं रख सका था। उसने 'राजाधिराज परमेश्वर' की उपाधि धारण की थी।

इम्मादी नरसिंह।

सन् १४९३ ई०में उसका लड़का इम्मादि नरसिंह शासनाधिकारी हुआ था और सन् १५०२ ई० तक वह शासन करता रहा था। सालुव नरसिंहने सेनापति नरेश नायकको उसका संरक्षक नियुक्त किया था, इसलिये शासनमें उसकी ही प्रधानता थी। नरेशने कावेरीके सुदूर दक्षिण प्रांतको जीतकर वहां विजयस्तंभ बनवाया था। मुसलमानोंको भी उसने परास्त किया था।[1]

तुलुव नरेश वीर नरसिंह।

नरेश तुलुववंशका नररत्न था। उसने गजपतिराय और मुसलमान सुलतानको परास्त किया था। उसने सन् १५०५ ई० तक विजयनगरमें शासन किया था। उसके पश्चात् तुलुव वंशका दूसरा शासक वीर नरसिंह सन् १५०६ में शासनाधिकारी हुआ। उसकी पदवी 'श्रीमान् महाराजाधिराज परमेश्वर भुजवलप्रताप-नरसिंह महाराज' उसकी महानताकी सूचक है। सालुव तिम्म उसका योग्य मंत्री था। नरसिंहके भाई कृष्णदेवरायने मुसलमानोंके आक्रमणोंसे विजयनगरकी रक्षा की और उसे विशाल साम्राज्यमें पुनः परिवर्तित किया था।

१ ६१-६४. २-वही०, पृ० ६५-६६.

स्वीकार किया। उसके बहनोई तिरुमल उसके मंत्री थे। किन्तु वह भी केन्द्रीय शक्तिको स्थिर न रख सके। प्राय. सभी प्रान्तोंके शासक स्वतंत्र हो गये। इस विकट परिस्थितिमें अच्युतको शौर्य जागृत हुआ। अच्युतने सामन्तोंको दबानेके लिये उन पर चढ़ाई कर दी और सबको पूर्ववत् अपने आधीन कर लिया। किन्तु हिन्दू संगठनका ध्यान न राजाको रहा और न सामन्तोंको। वे रागरंगमें फंस गये। अच्युत सन् १५४२ ई० में स्वर्गवासी हुआ। वह परम वैष्णव शासक था। जैनधर्म इनके राज्यमें भी वादी विद्यानंद द्वारा उत्कर्षको प्राप्त हुआ था।

ई० में कृष्णदेवने तैलिंगानाको जीत लिया था। गजपतिने कृष्णदेवसे सन्धि की और अपनी राजकुमारी भी उसको ब्याह दी थी। गोविंद साल्व तैलिंगानाका शासक नियुक्त किया गया था। इसके पश्चात सन् १५२० ई० में कृष्णदेवने एक लाख सेना लेकर आदिलशाह पर आक्रमण किया और उनके रायचूर, मुद्गल, ओदनी आदि दुर्गोंको छीन लिया। परास्त हुये मुसल्मानोंने कृष्णदेवरायके जीवनकालमें विजयनगर पर आक्रमण करनेका साहस नहीं किया। रायचूरके युद्धमें मुसलमान सेनापति सलाबतखाँ पकड़ा गया था और बहुतसी सामिग्री हिन्दुओंके हाथ लगी थी। तीसरी युद्धयात्रामें कृष्णदेवने रामेश्वरम् तक सुदूर दक्षिण प्रदेशको जीत लिया था। रामेश्वरम्में उसने विजयोत्सव मनाया था। उसने सन् १५३० ई० तक सफल शासन किया था। पुर्तगालके गवर्नर अलबुर्कसे व्यापारिक सन्धि करके उनको पश्चिमी किनारे पर किला बनानेकी आज्ञा दी थी। इससे विजयनगरका व्यापार बहुत बढ़ गया था।

कृष्णदेवराय और जैनधर्म।

कृष्णदेवरायने भी संगमवंशके नरेशोंके पदचिन्हों पर चलकर प्रत्येक धर्म और पंथका आदर किया था। उनके विशाल हृदयमें प्रजाके प्रत्येक वर्गके लिये स्थान था। जैनोंको उन्होंने अपने विशद साम्राज्यके दोनों सुदूरवर्ती छोरोंपर दान दिया था। चिंगलपेट जिलेके काञ्जीवरम् तालुकेके त्रिपरुत्तिकुण्रु नामक स्थानमें त्रिलोक्यनाथ-बस्तिको उन्होंने सन् १५१६ और १५१९ ई० में दो ग्राम

- १-मिर०, पृ० ६७-७०

भेंट किये थे। सन् १५२८ ई० में इन्होंने चिंगली जिलेके अन्तर्गत तालुकेके त्रिपतिरि नामक स्थानके जैन मंदिरको भी दान दिया था। इस दानपत्रको इन्होंने वेङ्कटरमण मंदिरकी दीवालोंपर भी अङ्कित करा दिया था।[1] इन्होंने चारगांवके जिनमंदिरको भी दान दिया था।[2]

वादीन्द्र विद्यानन्द।

जिस प्रकार इस समयके राजाओंमें सम्राट् कृष्णदेवराय महान् प्रतापी वीरेन्द्र थे उसी प्रकार इस समयके योगियोंमें वादी विद्यानन्द सर्वोपरि थे। वह कृष्णदेवरायके राजदरबारमें आये थे और वादियोंको अपने अकाट्य तर्क और तीक्ष्णबुद्धिसे परास्त किया था। सम्राट्ने इस जैन वाग्मिका समुचित सम्मान और अभिषेक किया था। इसप्रकार एकबार फिर जैन श्रमणोंकी प्रतिभा राजदरबारमें चमकी थी।

सम्राट् अच्युत।

किन्तु कृष्णदेवरायकी मृत्युके पश्चात् विजयनगर साम्राज्यकी समृद्धिको फिर धक्का लगा। मुसलमानोंने इस समय पुनः आक्रमण करना प्रारंभ किया। इस संकटापन्न कालमें कृष्णदेवके भाई अच्युतने राज्यका कार्यभार सम्हाला था परन्तु वह मुसलमानोंके समक्ष निर्बल प्रमाणित हुआ। मुसलमानोंने रायचूर व मुद्गलके प्रान्तोंको एकबार फिर अपने अधिकारमें कर लिया। अच्युतने सुल्तानको धन देकर

१—मेजे० पृ० ११ × मैकार (MSS) पृ० १८
२—मेजे० पृ० १०१-१०४ व अन्य

स्वीकार किया । उसके बहनोई तिरुमल उसके मंत्री थे । किन्तु वा भी केन्द्रीय शक्तिको स्थिर न रख सके । प्राय सभी प्रान्तोंके शासक स्वतंत्र हो गये । इस विकट परिस्थितिमें अच्युतको शौर्य जागृत हुआ । अच्युतने सामन्तोंको दबानेके लिये उन पर चढ़ाई कर दी और सबको पूर्ववत् अपने आधीन कर लिया । किन्तु हिन्दू संगठनका ध्यान न राजाको रहा और न सामंतोंको । वे रागरंगमें फस गये । अच्युत सन् १५४२ ई० में स्वर्गवासी हुआ ।[1] वह परम वैष्णव शासक था । जैनधर्म इनके राज्यमें भी वादी विद्यानन्द द्वारा उत्कर्षको प्राप्त हुआ था।[2]

अच्युत और सदाशिव ।

यह हम ऊपर बता चुके हैं कि अच्युतके बहनोई तिम्मके हाथमें राज्यका शासनसूत्र था । अच्युतके पश्चात उसकी रानी वरद-देवी अपने पुत्र वेङ्कटको राजसिंहासन पर बैठाना चाहती थी और उसका हक भी था, किन्तु तिम्म स्वयं राज्याधिकारी बनना चाहता था । अपने स्वार्थके समक्ष हिन्दूशासक हिन्दूधर्म और हिन्दू हितोंको भूल गये । हठात् रानी वरददेवीने बीजापुरके सुल्तान आदिलशाहके पास राखी भेज दी और वेङ्कटकी रक्षा करनेके लिये कहला भेजा । आदिलशाह सदलबल विजयनगर पर चढ़ आया—प्रजा भी उसके साथ हो गई, किन्तु तिम्मने उसे पचास लाख रुपये और सैंकड़ों हाथियोंकी घूस देकर शान्त कर दिया—आदिलशाह वापस बीजापुर लौट गया । अच्युतने वेङ्कटकी हत्या कराके अपना प्रभाव जमाया । उसका यह अत्याचार रामरायको अखरा । उसने तिम्मको गद्दीसे हटाकर अच्युतके

१–विर०, पृ० ७१–७२ २–मैजै०, पृ० ३२३

गद्दीपे सदाशिवको राजसिंहासनपर बैठाया। रामराय कृष्णदेवका जामाता था। इस प्रकार रामरायके संरक्षणसे तुलुववंश नष्ट होनेसे बच गया।

सदाशिवका नाममात्र शासन।

जिस समय सदाशिवका राजतिलक हुआ उस समय वह तेरह वर्षका अल्पवयस्क बालक था। उसके बहनोई रामरायने उसकी भरपूर रक्षा की और उसके लिये बहुं किले बनवाये। शासन संचालनकी मुख्य शक्ति रामरायके हाथोंमें ही थी। सन् १५५२ ई०में जब सदाशिवने हाथ पैर फैलाये तो रामरायने उसे कैद कर लिया और साथमें केवल एकबार उसके दर्शन प्रजाको कराने लगा। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि रामराय स्वयं सदाशिवके नामसे शासन करता था—सदाशिव उसके हाथोंमें कठपुतली था। इस प्रकार सन् १५७० ई० तक सदाशिव नाम मात्रका शासक रहा था। कृष्णदेवके पश्चात् जैनधर्मको राजाश्रय नहीं मिला यद्यपि प्रजामें वह पूर्ववत् प्रचलित रहा।

रामराय (आरविडु वंश)।

रामराय आरविडु वंशका प्रथम राजा था जिसने विजयनगर पर शासन किया था। प्रजाको संतुष्ट रखनेके लिये उसने सदाशिवको राजा बनाये रखा और फिर जब रामराय राजा बना तो किसीने इसका विरोध नहीं किया। इसप्रकार रामरायसे विजयनगरके शासकोंका चौथा राजवंश प्रारम्भ हुआ। रामराय एक प्रतापी राजा था—दैवाके राजाने भी उसकी आधीनता स्वीकारी थी। पूर्वगालके लोगोंको भी उसने

---

१ मिर. ...४४-४६ २ मिर. ...

सहायता की और नगरको बढ़ाया था। पुर्तगालियोंने उस सेनाके आक्रमणको विजयनगरकी उत्पन्नाक नायक तिरोजान विफल किया था। इसके पश्चात् पुर्तगालियोंने मस्जिदकी भी और विजयनगरके राजदूतका अभूतपूर्व स्वागत गोआमें किया था। मुसलमानोंको भी उसने बुरी तरह हराया था। उनकी मस्जिदोंमें मूर्तियां स्थापित करके उनको मंदिर बना दिया था। अहमदनगर बिल्कुल नष्ट कर दिया गया था। इतर सब मुसलमान शासक संगठित होकर सन् १५६५ ई०में विजयनगरपर चढ़ आये। रामरायके मुसलमान सेनापतियोंने उसे धोखा दिया और तालिकोटके युद्धमें वीर रामराय खेत रहा। मुसलमानोंने बुरी तरह लूटा, मुसलमान ५५० हाथियोंपर लादकर विजयनगरसे अतुल धनराशि लाये। मुसलमानोंने हिंदूओंको कत्ल किया और मंदिरों तथा राजमहलोंको नष्ट कर दिया। छ महीने तक मुसलमान सेना विजयनगरमें पड़ी हुई लूटमार करती रही। ऐसा अत्याचार शायद ही कभी कहीं किया गया हो।[1]

सार्वभौमिक पतन।

इस भयंकर पराजयका प्रभाव यह हुआ कि इसके पश्चात दक्षिणका कोई भी हिन्दू शासक पुनः एक विशाल साम्राज्यके निर्माण करनेका साहस न कर सका। हिंदू साम्राज्यका एकदम पतन हुआ। परिणामतः ब्राह्मण और जैन संस्कृतियोंका ह्रास हुआ। साहित्य, कला और व्यापारकी भी क्षति हुई एवं पुर्तगाली आदि विदेशी भी

१–विर० पृ० ७९–८४

और ठौर पर अपना अधिकार जमा बैठे। रामराजके पश्चात् तिरुमल, श्रीरंग प्रथम, श्रीवेङ्कटपतिदेव और श्रीरंग द्वि० नामक राजाओंने विजयनगरका शासन किया अवश्य परन्तु वे विजयनगरके सम्मानपद वैभवकी रक्षा करनेमें असमर्थ रहे। श्रीवेङ्कटकी उदारतासे ईसाइयोंने भी यहां आसन पैर जमा लिए और बहुतसे हिन्दुओंको ईसाई बना लिया। प्रजामें असन्तोष बढ़ गया। सब ही सामन्त स्वतन्त्र होगये। विजयनगरके राजाओंका कोई प्रभाव ही न रहा। शाहजी और मीरजुमलाने अन्तमें उनकी राजधानी पर भी अधिकार जमाया और विजयनगर साम्राज्यका अन्त कर दिया। उसके स्थान पर मराठा राज्यकी स्थापना हुई।

(१) सालुव-वंशवृक्ष।

नरसिंह
|
इम्मडी नरसिंह

(२) तुलुव-वंश-वृक्ष।

नरसनायक
|
वीर नरसिंह
|
कृष्णदेवराय
|
अच्युत
|
सदाशिवराय

(३) आरविडु-वंश-वृक्ष।

रामराज
|
तिरुमल
|
श्रीरंग प्रथम
|
श्री वेङ्कटपति देव
|
श्रीरंग द्वितीय
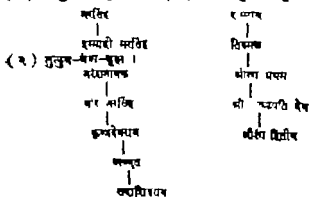
(३)

विजयनगरकी शासन-व्यवस्था तथा उनके सामन्तों और राजकर्मचारियोंमें जैनधर्म ।

हिंदू संगठन ।

हरिहरने जब विजयनगर राज्यकी स्थापनाकी तो उन्होंने होयसल राजाओंका आदर्श अपने सम्मुख रक्खा था-होयसल शासनप्रणालीका अनुकरण करके उन्होंने राजप्रबन्ध प्रारम्भ किया था । उसी प्रणालीके अनुरूप पश्चात्के सब ही विजयनगर राजाओंने अपने शासनको चलाया था । अलबत्ता वे लोग हरिहर बुक्क आदि महान् नरेशोंकी उस आदर्श नीतिको भुला बैठे थे, जिसके कारण प्रजावर्गमें साम्प्रदायिक विद्वेषका अन्त होकर पारस्परिक संगठन द्वारा एक महान् हिन्दू राष्ट्रकी पुनः स्थापनाका सुख स्वप्न मूर्तिमान होने जा रहा था । विजयनगरके उपरान्तकालीन राजा लोग हिन्दु राष्ट्र निर्माणकी बात ही भूल गये थे और वे आपसमें लड़ने लगे थे । विजयनगरके पतनमें यही एक कारण मुख्य था ।

सम्राट् और उसका मंत्रिमंडल ।

वैसे विजयनगर राज्यका शासन प्राचीन आर्य प्रथाके अनुसार सम्राट्के आधीन चालित हुआ था, परंतु सम्राट्को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होते हुए भी उच्छृंखलताकी आशंकाको मिटानेके लिये उनको एक मंत्रिमंडलके साथ शासन करना अनिवार्य था। सम्राट्को वैसे पूर्ण अधिकार प्राप्त थे पर वे मंत्रिमंडलकी सम्मतिका उल्लंघन कदाचित

ही करते थे। किन्तु यह मालूम नहीं होता कि विजयनगर साम्राज्यमें रानियोंकी स्थिति क्या थी? टेसक-रानियोंकी तरह उनको शासन-विभाग प्राप्त नहीं किया था—कोई भी रानी प्रान्तीय शासनकी भी अधिकारिणी नहीं थी। इतने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह शासन-नीतिसे बिल्कुल अपरिचित रहती थीं; क्योंकि कृष्णदेवरायके समयमें हम दो रानियोंको शासन-प्रबन्धमें सक्रिय भाग लेते हुये पाते हैं।[1] अब्दुररज्जाक और निकोलो कोन्टि नामक विदेशी यात्रियोंके वर्णनसे भी यही प्रगट होता है कि रानियां राजाके भोग-विलासकी वस्तुमात्र थीं और अपने पतिके शव के साथ सती हो जाती थीं। राजा बारह हजार रमणियोंसे विवाह करता था। राजाकी महानताके विषयमें अब्दुररज्जाक लिखता है कि विजयनगरके राय (राजा) से अधिक शक्तिशाली नरेशको भारतमें ढूंढनेका प्रयास करना निरर्थक है। कोन्टि लिखता है कि भारतमें सभी राजाओंमें विजयनगर नरेश विशेष शक्तिशाली है।[2]

मंत्रिमंडलका स्वरूप।

विजयनगरके शक्तिशाली नरेशोंके सुचारु राज्यप्रबंधके लिये जो मंत्रिमंडल अथवा राजसभा थी उसमें (१) प्रधान मंत्री, (२) प्रान्तीय सूबेदार (३) सेनापति, (४) राजगुरु तथा (५) कविगण नियुक्त किये जाते थे। इनमें राजा सबसे प्रधान होता था। उसकी सहायताके लिए और भी छोटे छोटे कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे।

१-वीर पृ० ७१। 2-Major p 31 & Pt. II p 6.
[illegible]

इस राजसभाके सदस्योंकी नियुक्तियां प्राय राजाकी इच्छानुसार होती थीं। राजधानीके प्रबन्धके लिये नियुक्त पुलिसका उच्च अधिकारी भी इस शासन सभाका सदस्य होता था। इन सबमें प्रधान मंत्रीका पद ही महत्त्वपूर्ण होता था। कोषाध्यक्ष भी नियुक्त किये जाते थे, जो आय-व्ययका हिसाब रखते थे। भाट, पान लानेवाला, पचांगकर्ता, खुदाई करनेवाला, लेख-निर्माता तथा शासनाचार्य भी महामंत्रीके आधीन होकर अपना२ कार्य करते थे। न्यायका कार्य सेनापति सुपुर्द था, परन्तु प्रधान न्यायाधीश स्वयं राजा ही था। दण्डमें जुर्माना किया जाता था अथवा दिव्य परीक्षा (Ordeal) तथा मृत्युदंड दिया जाता था। देवरायने प्रायश्चित्तका दंड भी दिया था।[1]

शासन-विभाग।

राजा शासन-सभाके अधिकारियों सहित प्रजाकी हित दृष्टिसे शासन किया करता था। प्रजाकी धार्मिक संस्कृति और बाह्य समृद्धिकी अभिवृद्धि करनेका ध्यान राजाको था। देशमें शान्तिपूर्ण सुव्यवस्था रहने पर यह अभिवृद्धि सम्भव थी। इसलिये ही शासन-प्रबन्ध चार भागोंमें बांटा गया था। (१) केन्द्रीय शासन, (२) प्रान्तीय शासन, (३) आधीनस्थ राज्य शासन, (४) ग्राम प्रबन्ध। केन्द्रीय शासन राजा और मंत्रिमण्डलके आधीन था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-वंशके लोग मंत्रीपदपर नियुक्त किये जाते थे। प्रान्तीय शासनका भार प्रान्तपति सामन्तों और नायकोंपर निर्भर था। राजकुमार और राजसम्बन्धी ही प्राय प्रांतीय शासक नियुक्त किये जाते थे। कोई

१-वि०, पृ० १०१-१०६।

प्रांतीय शासक ऐसा भी होता था जो राजघरानेसे सम्बन्धित होते हुए भी अपनी योग्यता और विश्वासपात्रताके कारण इस पदपर नियुक्त किया जाता था। प्रांतपतियोंको अपने२ प्रांतमें स्वतंत्र शासन करनेका अधिकार था। भूमिकरका तीसरा भाग वह राजाको देते थे और राजाकी सहायताके लिए सेना भी रखते थे। यह नायक अथवा महामण्डलेश्वर कहलाते थे।'

ग्राम-व्यवस्था।

प्रांतीय शासकोंको ही यह अधिकार था कि नाडु' (परगना) और ग्रामोंके प्रबन्धके लिए अपना अलग अधिकारी नियुक्त करें। नाडु अधिकारी सब ही गांवोंके कार्यका निरीक्षण किया करता था। ग्राम अधिकारीका पद वंश परम्परा-गत होता था। किन्तु ग्रामका प्रबन्ध 'ग्राम-पंचायत' द्वारा किया जाता था। अपराधी लोगोंको दण्ड देना, गांवकी रक्षा करना आदि कार्य ग्राम पंचायत ही करती थी। ग्राम कर्मचारी मुख्यतः सेनाग (लेखक) कायस्थ (पुलिस) व आयगार होते थे। ग्राम-पंचायत सब कामोंका वार्षिक विवरण शासकके पास भेजा करती थी। केन्द्रिय शासनका इस्तक रखनेके लिये एक या अधिक राज कर्मचारी थी। जैसे कस्बेमें भी एक निम्न सेना, अर्थात् पुलिस और रहस्यविद् गुप्तचर रहा करते थे। सैनिकोंका वेतन नकद दिया जाता था। सेनापर होनेवाला यह सब ही व्यय काश्तकारों (रैयतों) पर लगाये गए करसे वसूल किया जाता था। सेनाके पांच विभाग (१) पैदल, (२) घुड़सवार, (३) हाथी (४)

१–वीर पृ० १९९–२१   २–वही १९१

धनुषधारी, (५) और तोपखाना थे। विजयनगर राज्यमें जलसेनाका भी अपना एक बेड़ा था। मुसलमान सैनिक भी सेवामें रखे जाते थे।

राज्य कर।

राज्यकी आय साधारणतः भूमिकरसे मुख्यतः और अन्य करोंसे हुआ करती थी। धान्यका छठा भाग कर रूपमें वसूल किया जाता था। विशेष अवस्थामें भूमिकरमें परिवर्तन भी होता था। अन्य करोंमें (१) चुंगी, (२) पशु बेचनेका कर, (३) आयकर, (४) जंगल-कर, (५) मद्य कर, (६) कारखानोंका कर, (७) विवाह-कर, आदि सम्मिलित थे। आयका तीसरा भाग राजकीय महलों तथा आरामकी सामिग्री पर खर्च किया जाता था। और आयका आधा भाग सेनाके ऊपर खर्च होजाता था।[1]

व्यापार।

अरब, ईरान, पुर्तगाल आदि देशोंसे विजयनगरके राजाओंने राजनैतिक सम्पर्क स्थापित किये थे, जिसके कारण विजयनगर राज्यका व्यापार खूब ही चमका था। अनेक भारतीय व्यापारी दूर दूर देशोंसे व्यापार करते थे। उनके अपने जहाज थे। उनमें वे लोग सूती और रेशमी कपड़ा, ऊन, हीरा, जवाहरात, मसालेकी चीजें, तील और काफी भरकर विदेशोंको लेजाते थे। विदेशी लोग अपने देशोंका सामान लाकर विजयनगरके बड़े २ नगरोंके बाजारोंमें बेचा करते थे। अब्दुलरज्जाकने लिखा है कि विजयनगर राज्यमें तीनसौ बन्दरगाह थे, जिनमें मिश्र, रूम, सिरिया (Syria), अजरबेजन, इराक, अरब,

१–वि०इ०, पृ० ११६–१२५

सुमात्रा आदि देशोंसे व्यापारी आते और जाते थे।[1] ओरमज (Ormaz) कालीकट, मंगलोर और खंभात उल्लेखनीय बंदरगाह थे। ओरमज समुद्रके मध्य स्थित था। अब्दुल रज्जाककी दृष्टिमें उसके समान दूसरा बंदरगाह दुनियांमें नहीं था। (Ormaz has not its equal on the surface of the globe). कालीकटका बन्दरगाह भी ओरमजके समान सुरक्षित और बड़ा बंदरगाह था। अबीसीनिया जिरबाद जंजीबार और हेरमास जहाज यहां अधिकतर आया करते थे और यहांकी सुरक्षित स्थिति और व्यापारिक सुविधाके कारण अधिक समय तक ठहराते थे। यहां बड़े चतुर और साहसी नाविक (Sailors) रहते थे। उनके कारण समुद्रके लुटेरे कालीकटके जहाजोंको लूटनेका साहस ही नहीं करते थे। निकिटिन (Nikitin) नामक यात्रीके शब्दोंमें कम्बायत उस समय सारे भारतीय महासागरके बन्दरगाहोंके लिए प्रमुख बंदरगाह था और वहां प्रत्येक प्रकारकी व्यापारिक वस्तुयें तैयार की जाती थीं।[2] सारांश, विजयनगर राज्यमें व्यापारकी सुव्यवस्थित वृद्धिसे देश समृद्धिशाली हुआ था। यहांके लोग बहुत ही स्वस्थ और [illegible] जीवन व्यतीत करते थे। अथनासु निकिटिन नामक (Athanasius Nikitin) यात्रीने लिखा है कि भारतमें दैनिक जीवनका व्यय अन्य देशोंकी अपेक्षा अधिक था। आज जिस प्रकार अमरीकाकी समृद्धिसे वहांका दैनिक

1-Major Pt. I p 5 2-वही, पृष्ठ १६-१७। 3-वही भा० २ पृष्ठ १९। 4 'Living in India is very expensive.—Major P. 25

जीवन अधिक खर्चीला बना रक्खा है। बस ही भारतकी तत्कालीन समृद्धिने भारतीयोंका जीवन व्यय अधिक खर्चीला बना दिया था। उनका रहन सहन ऊंचे दर्जेका था।

नागरिकोंके आदर्श कार्य ।

भारतीय उस समय खूब भरेपूरे थे। राजा और प्रजा, दोनों ही आमोद प्रमोदके साथ-साथ दान धर्ममें भी काफी रुपया खर्चते थे। उन्होंने नयनाभिराम मंदिर और प्रासाद बनाये थे। विजयनगरकी सड़कोंपर हीरा, मोती, लाल, जवाहरात जड़कर उन्होंने अपनी समृद्धि-शालीनताका परिचय दिया था।[१] किन्तु इस धनको उन्होंने ईमानदारीसे संचित किया था। व्यापारीगण देन लेनेमें सच्चाई और ईमानदारीका बर्ताव करते थे। धर्म—पुरुषार्थको आगे रखकर ही वे अर्थ पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये उद्यम करते थे। अब्दुल रज्जाकने लिखा है कि विजयनगरके बन्दरगाहोंमें रक्षा और न्यायकी ऐसी सुव्यवस्था थी कि बड़ेसे बड़े धनी व्यापारी अपना माल लानेमें हिचकते नहीं थे। कालीकटमें वे निस्संकोच अपना माल बाजारोंमें भेज देते थे। भारतीय व्यापारियोंकी ईमानदारीका उनको इतना भरोसा था कि वे हिसाब जांचने अथवा अपने मालकी खबरगिरी रखनेकी भी आवश्यकता नहीं समझते थे। चुंगीके राजकर्मचारीगण भी इतने ईमानदार थे कि वे व्यापारियोंका माल अपने सुपर्द लेकर उसकी पूरी निगरानी रखते थे—व्यापारियोंकी

१—'विचित्ररत्नरुचिरं तत्रास्ति विजयाभिधं,
नगरं सौधसंदोहदर्शिताकालचंद्रिकं ॥२६॥
मणिकुट्टिमवीथीषु मुक्ता सैकतसेतुभिः,
दानं धुनि निरुधाना यत्र क्रीडन्ति बालिका ॥२७॥ —गणिगिति शिलालेख

वनिक भी हानि नहीं होती थी। इन व्यापारियोंमें बहुतसे बड़े२ व्यापारी जैनी होते थे। जैन व्यापारियोंने देशको समृद्धिशाली बनानेमें अथक उत्साह और सब प्रकारका परिश्रम किया था। वे अपनी व्यापारिक संस्थायें बना कर व्यापार करते थे।

धार्मिक सहिष्णुता।

विजयनगर साम्राज्यमें धार्मिक-सहिष्णुता भी एक उल्लेखनीय वस्तु थी। विदेशियों और मुसलमानों तकको अपने धर्मनियमोंको पालनेकी सुविधा प्राप्त थी मुसलमानोंके लिए राजकी ओरसे मस्जिद बनानेकी सुविधा प्राप्त हुई थी। मुसलमान राजकर्मचारीगण भी समुदार और हिन्दू धर्मायतनोंके प्रति सहानुभूति रखते थे। उन्होंने हिंदू मंदिरोंको दान दिये थे। पारस्परिक सौहार्दका यह सुन्दर नमूना था। पुर्तगालके ईसाई पादरियोंको भी अपने मतका प्रचार करनेकी छूट थी। किन्तु इतने पर भी इन विदेशी मतोंको सफलता नहीं मिलती थी। इनके प्रचारको बोधिराट् विद्यानन्द सदृश महात्मा निर्बल और निष्फल बना देते थे। वास्तवमें जनतामें वैष्णव शैव और जैन मत इतने गहरे पैठ हुये थे कि विदेशी मतोंकी ओर वे आकृष्ट ही न हो पाते थे। कर्णाटकमें गऊवध निषिद्ध था और कोई भी गौ मांस नहीं

1-Major Pt. I pp 13 14 २-वीर पृ ११८।
३-लेखके शिलालेख नं० ११ से स्पष्ट है कि विजयनगरके नायक मुसलमान अफसरने मुसलमान शासक शिवाजीके लिये एक हिन्दू मंदिरको भूमिदान किया था। चामराजाने ११ जून १५५४ ई० को वेंकटपुरके मंदिरको दान दिया था। —(ASM 1941 pp 153-154)
४-वीर पृ ११८

रखा सकता था'–अब्दुर्रज्जाकका यह लिखना विजयनगर साम्राज्यसे ताल्लुक रखता है। जैनधर्मको राजाश्रय प्राप्त था। समय २ पर वह विजयनगरका राजधर्म भी रहा था। विजयनगर सम्राटोंकी इसके प्रति सहृदयता हुई थी।[2] इनके राजदरबारोंमें जैन आचार्यों पंडितों और कवियोंको सम्माननीय पद प्राप्त था। विजयनगर शासनके प्रारम्भमें दिग्गज वादकुशल जैनाचार्योंका प्रायः अभाव था–इसीलिये वह जैनतर वादियोंके समक्षमें नहीं टिक पाते थे, किन्तु वादी विद्यानन्दने इस कमीको पूरा करके जैनधर्मकी अपूर्व प्रभावना की थी।[3]

समाज व्यवस्था।

विजयनगर साम्राज्यमें समाज व्यवस्था अपने प्राचीन रूपमें प्रचलित थी। मुसल्मानों और ईसाइयोंके प्रचारको लक्ष्य करके वर्णाश्रम धर्मके पालनमें कट्टरता बरती जाती थी। विजयनगर राजाओंके विरुदोंमें 'सर्ववर्णाश्रमाचार–प्रतिपालनतत्पर' अथवा 'वर्णाश्रम-धर्मपालिता' इस बातके द्योतक हैं कि राजालोग वर्णाश्रम धर्मकी रक्षामें तत्पर थे। शङ्कराचार्यजीके समयसे ही वर्णाश्रमी पौराणिक हिन्दूधर्मका प्रचार बढ रहा था, किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और

1-"In this harbour one may find everything that can be desired One thing alone is forbidden namely to kill a cow or to eat its flesh whosoever should be discovered slaughtering or eating one of these animals, would be immediately punished with death "—Major, I p 18   २–विइ०, पृ० १६६–१६७.

३–शृंगेरीमठके वैष्णवगुरू भारतीतीर्थके लिए हरिहर द्वि० (१३४६ ई०) के दानपत्रमें 'क्षपणक-फणाति तृणं आचूणयन्त' कहा गया है। (ASM 1933, p 219)

शूद्रोंके अतिरिक्त और भी जातियां उत्पन्न हो चुकी थीं। जैनोंमें भी वर्णाश्रमकी कट्टरता अभी पूर्ण रूपमें प्रसिद्ध नहीं हुई थी उनमें वैवाहिक और कुलकी मान्यता पूर्ववत् प्रचलित थी। उस वर्णके जैनी परस्पर विवाह सम्बंध करते थे। इनमें भी सेठी वाणिजमेट गामावेदी अमरावतीकोटे, उदयकुल कलितसेमोग आदि उपजातियोंका बनना शुरू हुआ था।

स्त्री समाज।

इस समय स्त्रियोंका सम्मानीय स्थान था। बालक-बालिकाओंको समानरूपमें शिक्षा-दीक्षा दी जाती थी। कन्याओंको संगीत नृत्य, चित्रकारी आदि ललित कलायें विशेष रूपसे सिखाई जाती थीं। स्त्रियोंका पतिके साथ युद्ध, यात्रा और वाणिज्यमें जाकर साथ देनेके उल्लेखोंसे स्पष्ट है इस समय स्त्रियोंमें परदेका रिवाज नहीं था।[१] विदेशी यात्री भी यही लिख गये हैं[१+] दक्षिणमें परदेकी प्रथा आज भी नहीं है। किन्तु इस समय बहु विवाह प्रथाका बहुप्रचार था। सर्वसाधारण लोग भी अनेक विवाह करते थे। दहेजमें गांव तक दिये जाते थे। शूद्र अपनी कन्याओंको बेचते भी थे। इन समाजविरोधों का काम न करनेपर लोग जातिबहिष्कृत कर दिये जाते थे। इस प्रकार समाजमें वैवाहिक प्रथा कठोर और बुराईसे खाली नहीं थी। स्त्रियोंमें पतिके साथ जल मरनेकी मूर्खता भरी प्रथा प्रचलित थी।[२]

१-मिर पृ १ -२ १ १+Not did they try to hide their women.-Major p 14 २-Major II. p 23 व मिर पृ २ १। ३-मिर पृ १ १-२ १ व Major II. P 6

जैन स्त्रियोंमें भी कोई २ इस तरह प्रख्यात आत्म-कल्याण करती थीं।[1] राजमहलों और जैन मंदिरोंमें संगीत और नृत्यके लिये गणिकायें भी होती थीं।[2] जैन महिलाओंको इनकी अन्य बहिनोंकी अपेक्षा अधिक स्वाधीनता प्राप्त थी। वह धर्मकार्योंको करनेके लिये स्वाधीन था। अनेक जैन महिलायें आर्यिकायें (साध्वी) होकर लोक-कल्याणमें निरत रहती थीं। वे स्वतंत्र रूपसे दान भी देती थीं और अपने धर्मगुरुओंसे शिक्षा भी लेती थीं। शासनमें भी उनको अधिकार प्राप्त था। उनमें अनेक कवियत्री और पंडितायें भी थीं। इनके सौन्दर्यकी प्रशंसा विदेशियोंने की थी।[3] वे स्वभावतः सुन्दरियां होती थीं।

जैन संघ व्यवस्था।

दक्षिण भारतके जैनियोंमें प्राचीन संघ व्यवस्था अब भी मौजूद थी। मुनि और आर्यिका संघके साथ श्रावक संघ भी मौजूद था। आर्यिकायें अपना संघ अलग बनाकर नहीं रहती थीं, बल्कि वे मुनि संघके आचार्योंकी शिष्या कही गई हैं। इसी तरह श्रावक-श्राविका भी अपने गुरुके संघमें सम्मिलित होते थे। मुनि संघ कई अन्तर-भेदोंमें बटा हुआ था। शिलालेखोंमें मूल संघ सारस्वती गच्छ,

---

१-स्तवनिधि लेख नं० ५४ में लिखा है कि कमलाहदी महालक्ष्मी अपने इष्टदेव जिनेन्द्र भगवान, निर्ग्रन्थ गुरु और अपने प्यारे पति हरियनका ध्यान करते हुए सल्लेखनापूर्वक अग्निमें जली और सती होगई। ASM, 1942, P 185 २-विर०, पृ० २०२। ३-वेलोर (Belour) में पहुंचने पर अब्दुलरज्जाकने वहांकी स्त्रियोंके सौन्दर्यको अप्सराओं जैसा पाया। ("Women reminded one of the beauty of Hauris" —Major, I, p 20).

कोण्डकुन्दान्वयके अतिरिक्त मूल संघ-क्राणूर् गण-पुस्तक गच्छ; मूल संघ देशीयगण-पुस्तक गच्छ; मूल संघ-बलात्कारगण; द्राविडान्वय यापनिय-संघे इंगलेश्वर संघ, मूल संघ-सूरस्थगण-चित्रकूटान्वय, श्रीमेघराजान्वय-देशीयगण इत्यादि संघों और गणोंका पता चलता है। यह नाम भी प्राय क्षेत्रकी अपेक्षासे रक्खे गए हों। क्राणूर, देशी, द्राविड चित्रकूट इंगलेश्वर आदि नाम क्षेत्रोंके ही द्योतक हैं। जैनमठ बेलगोलके शासन नं ६२ से स्पष्ट है कि सन् ११८० के पहलेसे दक्षिण भारतमें प्रायः मठोंकी तरह जैन मठोंकी स्थापना हो गई थी। दिल्ली कोल्हापुर जिनकांची और पेनुगोंडेमें जैन भट्टारकोंकी गद्दियां थीं। यह सब भट्टारक लक्ष्मीसेन कहलाते थे और वस्त्र पहनते थे। (ASM. 1939 p 190)

जैन मुनियोंका चारित्र।

यद्यपि दि० जैन मुनिगण अनेक संघों और गच्छोंमें बंटे हुये थे, परन्तु उनके आचार विचार प्रायः एक समान थे। वे सब ही जैनधर्मकी प्रभावनामें दत्तचित्त थे। चूंकि मंदिरोंकी व्यवस्थाका भार और उत्सवादिका उत्तरदायित्व विभिन्न आचार्यों पर होता था इसलिये उनमें विभिन्न क्षेत्रों और स्थानोंकी अपेक्षा संघ और गच्छ बन गये थे। मालूम होता है कि उस समय विदेशी लोगोंको भी जैनधर्ममें

1-ASM 1934 p 114. २-वही सन् १९११ पृ २६४. ३-वही १९१४ पृ १७५ ४-वही सन् १९४ पृ १७२-१७३ ५-वही १९१८ पृ ८१-८८ ६-वही पृ १८१ ७-वही १९४२ पृ १८६ ८-वही १९४१ पृ ११४-११५.

दीक्षित किया गया था। एलिनीया यावनिका राजवंशके राजा मक्का जाते-आते थे जिससे उनका सम्बन्ध अरबदेशसे स्पष्ट है। पहले अरबमें मूर्तिपूजक रहते थे।[1] उनके जैनधर्मानुयायी और राज्याधिकारी होकर मुनि होनेपर जैनाचार्योंने उनका एक अलग संघ 'यावनिका' नामक स्थापित किया प्रतीत होता है। उसे 'यापनीय' का अपभ्रंश मानना कुछ ठीक नहीं जचता। उनका अलग संघ बनानेकी आवश्यकता यूं पड़ी होगी कि वे विदेशी थे और उस समय वर्णाश्रमी कट्टरताका प्रभाव जैनियोंपर भी पड़ा था। नई २ उपजातियां भी बनने लगीं थीं। एक लेखमें उस समय अठारह जातियोंका उल्लेख है, जिनमें अछूत भी सम्मिलित थे और उन सबने मिलकर केशव-मंदिर बनाया था।[2] वैष्णवोंमें यह उदारता जैनोंकी देखादेखी प्रचलित रही प्रतीत होती है।

मुनियोंका महान् व्यक्तित्व।

दिगम्बर जैन मुनि निरारम्भ और निष्परिग्रह रहकर अपनी आत्माका उत्कर्ष और लोकका उपकार करनेमें निरत थे। उनकी महान् पद्वियोंसे स्पष्ट है कि वे चारित्र, विद्या और ज्ञानमें चढ़े बढ़े एवं देवेन्द्रों नरेन्द्रोंद्वारा पूज्य थे। भट्टारक धर्मभूषणको एक लेखमें "जिनेन्द्रचरण चचरीक"—"देवेन्द्रपूज्य"—"चतुर्विधदान चिन्तामणि" और "जिनमंदिर—जीर्णोद्धारक' कहा गया है,[3] जिससे प्रगट है कि

१–मजैइ०, भा० ३ खंड २ पृ० १६२–१६३ 2–ASM 1939 p 101 ३–पचवाली हुम्चा लेख नं० ४७ ASM, 1934, p, 176

मुनिगण जिनेन्द्रभक्तिमें लीन और मंदिरोंके संरक्षक होते थे। मंदिरोंसे जो गांव लगे हुए थे उनकी आमदनीसे उस मंदिरका जैनाचार्य (१) आहार, (२) भैषज्य, (३) अभय (४) और ज्ञान दानकी व्यवस्था उस मंदिरमें करता था। इस प्रकार मुनिराज और मंदिर लोकोपकारके साधन बने हुये थे। लोगों पर उनका अच्छा प्रभाव पड़ा हुआ था। जैन सिद्धान्तके साथ२ मुनिगण अन्य सिद्धान्तोंके भी पारगामी होते थे। इसीलिये जैनधर्मके स्तंभ माने जाते थे। ज्ञान-ध्यानमें रत पाये जानेके कारण वे 'अविचलित योग-वीर' और 'तपोधर' कहे जाते थे। जनतामें ज्ञान-प्रचार करना उनका परम कर्तव्य था। जो साधु ज्ञानी ध्यानी नहीं होते थे उन्हें साधुवेषी माना जाता था और कहा जाता था कि वे ज्ञानहीन साधुवेषी केवल अपना पेट भरना ही जानते हैं। सारांशतः मुनिसंघ विवेकपूर्वक लोककल्याणमें निरत था।

आर्यिकायें।

मुमुक्षु महिलायें भी छोड़कर त्याग धर्ममें निरत होती थीं। उनके संघका नेतृत्व भी संभवतः जैनाचार्य करते थे; क्योंकि लेखोंमें उनके गुरु जैनाचार्य ही कहे गए हैं। यह आर्यिका ज्ञान-ध्यानमें

१–[illegible] भा० १ पृ० १-४

२–[illegible] परीक्षा [illegible] मुनि [illegible] [illegible] । [illegible]

३–लापुर (बिजौरे) के लेख नं० ४४ में [illegible] नामक आर्यिकाके पूर्ण [illegible] किये हैं। [illegible] थी। (ASM. 1933 p 178)

समय बितातीं हुई ठौर ठौर जाकर जनताको आत्मबोध करातीं थीं-बालिकाओं और स्त्रियोंको शिक्षा दीक्षा देतीं थीं। वे स्वयं व्रत-नियम पालतीं थीं और श्राविकाओंको उनको पालनके लिये उत्साहित करतीं थीं। अन्तमें समाधिमरण पूर्वक वह अपनी इह लीला पूर्ण करतीं थीं।[1]

श्रावक श्राविकायें।

साधुओंके पवित्र जीवन और उनकी सत्संगतिका प्रभाव श्रावक श्राविकाओं पर पड़ा था। वे लौकिक धर्मका पालन करते हुये आत्मशुद्धिके मार्गमें आगे बढ़ते थे। जिनेन्द्रकी पूजा करना और दान देना उनके मुख्य धर्म-कर्म थे। स्त्री और पुरुष समान रूपमें जिनेन्द्र पूजा एवं अन्य धार्मिक क्रियायें करते थे। श्रावक श्राविकाओंके अपने२ धर्मगुरु होते थे, जो उन्हें धर्मपालनके लिए उत्साहित और सावधान करते थे। जैन कुलाचारका पालन ठीकसे हो, इसका ध्यान आचार्योंके साथ २ प्रमुख श्रावक भी रखते थे। सतवनिधिके जैन शासक बोम्मगौडका जीवन एक श्रावकके आदर्शको स्पष्ट करता है। वह जिनचरण चचरीक थे-गुरुभक्त थे। दूसरे देव और गुरुके आगे नतमस्तक नहीं होते थे। हमेशा सम्यक्त्वमें रत रहते थे और जैनमतकी वृद्धिके लिये तत्पर रहते थे। जैन कुलाचारकी

१-इल्लेकन्तियरने समाधिमरण किया। (वही) विन्दिगनवलेके स्तम्भ लेख नं० ६५ से स्पष्ट है कि अमृतब्बे-कन्तियर नामक आर्यिकाने तप तथा और समाधिपूर्वक प्राण-विसर्जन किये। (ASM. 1939. p 193)

संकटापन्न है तो वे उसे सल्लेखनाव्रत दे देते हैं और उसका पालन ठीकसे हो, उसके लिये निर्यापक कर देते हैं। गुरुओंके बाहुल्यसे उससमय सल्लेखनाव्रतका प्रचार समुचित रूपमें था। सल्लेखनाके समयमें जिनेन्द्रदेवका ध्यान और णमोकारमंत्रका स्मरण करते हुये एवं नियमोंको पालते हुये मुमुक्षु स्वर्ग सुख प्राप्त करते थे। स्वर्गवासी बन्धुओंकी स्मृतिमें निषधि और वीरगल् बनवाये जाते थे। हस्सन जिलेके गोदर नामक स्थानसे जो 'निषधिकल्' (निषधिका शिलापट) प्राप्त हुआ है, उस पर तीन भागोंमें तीन दृश्य उत्कीर्ण हैं। तल भागमें पहले ही उन दो श्राविकाओंके चित्र उत्कीर्ण हैं, जिन्होंने सल्लेखना विधिसे आत्म विसर्जन किया था। वे वीरवर सत्य वेगडेकी पत्नियां और आचार्य नयकीर्तिदेव सिद्धांतेशकी शिष्या थीं। पतिके वीरगतिको प्राप्त होने पर उन्होंने सल्लेखनाव्रत लिया था। इसके ऊपर दूसरे दृश्यमें दोनों श्राविकायें देवाङ्गनाओंसे वेष्टित विमानमें स्वर्गको जाती हुई दिखाई देतीं हैं।[1] इस दृश्यके प्रदर्शनसे सल्लेखना व्रतका माहात्म्य जनताके हृदयमें घर कर जाता था। तीसरे दृश्यमें जिनेन्द्र भगवान्की मूर्ति अङ्कित है, जिनपर दो देवाङ्गनायें चमर ढोल रहीं हैं। "जिनेन्द्रकी भक्ति ही स्वर्गसुखदायिनी है"—इस सत्यका बखान निषधिकल्के इस दृश्यसे होता था। साराशतः जैनाचारको पालन करनेका समुचित ध्यान संघमें रक्खा जाता था।

साम्प्रदायिक विद्वेष और पारस्परिक प्रभाव।

किन्तु इतने पर भी, यह मानना पड़ेगा कि उस समय वर्णा-

1 ASM., 1943, p. 74.

धर्म प्रधान हिन्दूधर्मकी प्रधानता थी। यद्यपि विजयनगरके शासकोंकी उदार धार्मिक नीति थी फिर भी वैष्णव और शैव जैनोंको कष्ट देनेपर उतारू हो जाते थे। श्रीकृष्णदेवराय सदृश महान् और उदार शासकके राज्यकालमें ही नृशंस घटना घटित हुई थी। कर्नूल जिलेके श्रीशैल नामक स्थानका शासक छान्दपुत्र वीरशैव धर्मका अनुयायी और श्वेतम्बरमत (जैनधर्म) का विरोधी था। सन् १५१२ ई० के एक लेखसे स्पष्ट है कि उसने श्वेताम्बर जैनियोंका वधशिरच्छेदन कराया था। लेखमें इसके इस नृशंस कर्मकी गणना उसके धर्मकृत्योंमें की है। यथा इससे कष्टता और क्या अत्याचार हो सकता था! ऐसी भयावह स्थितिमें जैनाचार्योंके लिये धर्मको स्थिर रखना कठिन होरहा था। कहीं कहीं तो जैनधर्मावलम्बियोंमें जिनेन्द्रपूजा भी न हो पाती थी। कहीं-कहीं श्रद्धा-सत्ता श्रावक-श्राविकाओं पर उनके पड़ोसी विधर्मियोंके आचार विचारका प्रभाव पड़ता था। जैनी उनके देखादेखी लोकमूढ़तामें पड़ जाते थे; पर जिनदेवको तब भी न भूलते थे। दक्षीदेवी सती हुई-अग्निमें जल मरी पर मरते दमतक जिनदेव और जैन धर्मगुरुको न भूली। एचिमनहल्लिकी जैन बस्तिके लेख न० ५६ से स्पष्ट है कि गोवा चौकीदार और उसकी माँ जक्कव्व एवं केतिव और उसकी पत्नी चन्दुदेवीने सन्यास मरण किया और अकलंकजिनदेवमें लीन हो गये।[1] अर्थात् अकलंकजिनदेव नाम शैव मतके प्रभावको व्यक्त करता है- जैनी अबकेवमें विलीन हुए-स्वर्गवासी हुए' वाक्यके स्थानपर 'जिन में लीन हुये कह गये हैं। जैन पूजामें जिनेन्द्रदेवके

1-जैशे० पृ० ३२९। 2-ASM. 3-Ibid. 1836. p. 142.

संकटापन्न है तो वे उसे सल्लेखनाव्रत दे देते हैं और उसका पालन ठीकसे हो, उसके लिये निर्यापक कर देते हैं। गुरुओंके बाहुल्यसे उससमय सल्लेखनाव्रतका प्रचार समुचित रूपमें था। सल्लेखनाके समयमें जिनेन्द्रदेवका ध्यान और णमोकारमंत्रका स्मरण करते हुये एवं नियमोंको पालते हुये मुमुक्षु स्वर्ग सुख प्राप्त करते थे। स्वर्गवासी बन्धुओंकी स्मृतिमें निषधि और वीरगल् बनवाये जाते थे। हस्सन जिलेके गोदर नामक स्थानसे जो 'निषधिकल्' (निषधिका शिलापट) प्राप्त हुआ है, उस पर तीन भागोंमें तीन दृश्य उत्कीर्ण हैं। तल भागमें पहले ही उन दो श्राविकाओंके चित्र उत्कीर्ण हैं, जिन्होंने सल्लेखना विधिसे आत्म विसर्जन किया था। वे वीरवर सत्य वेग्गेडेकी पत्नियां और आचार्य नयकीर्तिदेव सिद्धांतेशकी शिष्या थीं। पतिके वीरगतिको प्राप्त होने पर उन्होंने सल्लेखनाव्रत लिया था। इसके ऊपर दूसरे दृश्यमें दोनों श्राविकायें देवाङ्गनाओंसे वेष्टित विमानमें स्वर्गको जाती हुई दिखाई देती हैं।[1] इस दृश्यके प्रदर्शनसे सल्लेखना व्रतका माहात्म्य जनताके हृदयमें घर कर जाता था। तीसरे दृश्यमें जिनेन्द्र भगवान्की मूर्ति अङ्कित है, जिनपर दो देवाङ्गनायें चमर ढोल रहीं हैं। "जिनेन्द्रकी भक्ति ही स्वर्गसुखदायिनी है"—इस सत्यका बखान निषधिकल्के इस दृश्यसे होता था। सारांशत जैनाचारको पालन करनेका समुचित ध्यान संघमें रक्खा जाता था।

साम्प्रदायिक विद्वेष और पारस्परिक प्रभाव।

किन्तु इतने पर भी, यह मानना पड़ेगा कि उस समय वर्णा-

1 ASM, 1943, p. 74.

अब प्रधान हिन्दूधर्मकी प्रधानता थी। यद्यपि विजयनगरके शासकोंकी उदार धार्मिक नीति थी फिर भी वैष्णव और शैव जैनोंको कष्ट देने पर उतारू हो जाते थे। श्रीकृष्णदेवराय सदृश महान् और उदार शासकके राज्यकालमें ही नृशंस घटना घटित हुई थी। कर्नूल जिलेके श्रीशैल नामक स्थानका शासक ब्राह्मपुत्र वीरशैव धर्मका अनुयायी और जनधर्मसमय (जैनधर्म) का विरोधी था। सन् १५१२ ई० के एक लेखसे स्पष्ट है कि उसने श्वेताम्बर जैनियोंका कत्लेआम कराया था।[1] लेखमें उसके इस नृशंस कर्मकी गणना उसके धर्मकृत्योंमें की है। भला इससे ज्यादा और क्या अत्याचार हो सकता था! ऐसी भयावह स्थितिमें जैनाचार्योंके लिये धर्मको स्थिर रखना कठिन होरहा था। कहीं कहीं तो जैनधर्मावलम्बोंमें जिनेन्द्रपूजा भी न हो पाती थी। कहीं कहीं भूला-भटका श्रावक-श्राविकाओं पर उनके पड़ोसी विधर्मियोंके आचार विचारका प्रभाव पड़ता था। जैसी उनके देखादेखी लोकमूढ़तामें पड़ जाते थे; पर जिनदेवको तब भी न भूलते थे। बसमीदेवी सती हुई—अग्निमें जल मरी पर भाते दमतक जिनदेव और जैन धर्मगुरुको न भूली। एलिफण्टाकी जैन बस्तिके लेख नं० ५६ से स्पष्ट है कि गोम्म चौकीदार और उसकी मां जक्कब्बे एवं केतिय और उसकी पत्नी चन्दुकेतीने सन्यास मरण किया और कालस्तिशिवदेवमें लीन हो गये।[2] यहांपर कालस्तिश्वरदेव नाम शैव मतके प्रभावको व्यक्त करता है—जैसी कालदेवमें विलीन हुए-स्वर्गवासी हुए वाक्यके स्थानपर 'शिव में लीन हुये' कह गए हैं। जैन पूजामें जिनेन्द्रदेवके

१—जैनी पृ ११६। 2-ASM; 3-Ibid, 1836, p. 142.

संकटापन्न है तो वे उसे सल्लेखनाव्रत दे देते हैं और उसका पालन ठीकसे हो, उसके लिये निर्यापक कर देते हैं। गुरुओंके बाहुल्यसे उससमय सल्लेखनाव्रतका प्रचार समुचित रूपमें था। सल्लेखनाके समयमें जिनेन्द्रदेवका ध्यान और णमोकारमंत्रका स्मरण करते हुये एवं नियमोंको पालते हुये मुमुक्षु स्वर्ग सुख प्राप्त करते थे। स्वर्गवासी बन्धुओंकी स्मृतिमें निषधि और वीरगल् बनवाये जाते थे। हस्सन जिलेके गोदर नामक स्थानसे जो 'निषधिकल्' (निषधिका शिलापट) प्राप्त हुआ है, उस पर तीन भागोंमें तीन दृश्य उत्कीर्ण हैं। तल भागमें पहले ही उन दो श्राविकाओंके चित्र उत्कीर्ण हैं, जिन्होंने सल्लेखना विधिसे आत्म विसर्जन किया था। वे वीरवर सत्य वेग्गेडेकी पत्नियां और आचार्य नयकीर्तिदेव सिद्धांतेशकी शिष्या थीं। पतिके वीरगतिको प्राप्त होने पर उन्होंने सल्लेखनाव्रत लिया था। इसके ऊपर दूसरे दृश्यमें दोनों श्राविकायें देवाङ्गनाओंसे वेष्टित विमानमें स्वर्गको जाती हुई दिखाई देती हैं।[१] इस दृश्यके प्रदर्शनसे सल्लेखना व्रतका माहात्म्य जनताके हृदयमें घर कर जाता था। तीसरे दृश्यमें जिनेन्द्र भगवन्की मूर्ति अङ्कित है, जिनपर दो देवाङ्गनायें चमर ढोल रहीं हैं। "जिनेन्द्रकी भक्ति ही स्वर्गसुखदायिनी है"—इस सत्यका बखान निषधिकल्के इस दृश्यसे होता था। सारांशतः जैनाचारको पालन करनेका समुचित ध्यान संघमें रक्खा जाता था।

साम्प्रदायिक विद्वेष और पारस्परिक प्रभाव।

किन्तु इतने पर भी, यह मानना पड़ेगा कि उस समय वर्णा-

जब प्रधान हिन्दूधर्मकी प्रधानता थी। यद्यपि विजयनगरके शासकोंकी उदार धार्मिक नीति थी फिर भी वैष्णव और शैव जैनोंको कष्ट देने पर उतारू हो जाते थे। श्रीकृष्णदेवराय सदृश महान् और उदार शासकके राज्यकालमें ही नृशंस घटना घटित हुई थी। कर्नूल जिलेके श्रीशैल नामक स्थानका शासक राजपुत्र वीरशैव धर्मका अनुयायी और अनेकान्तमत (जैनधर्म) का विरोधी था। सन् १५१२ ई० के एक लेखसे स्पष्ट है कि उसने श्वेताम्बर जैनियोंका कत्लेआम कराया था।[1] लेखमें उसके इस नृशंस कर्मकी गणना उसके धर्मकृत्योंमें की है। भला इससे ज्यादा और क्या अत्याचार हो सकता था! ऐसी भयावह स्थितिमें जैनाचार्योंके लिये धर्मको स्थिर रखना कठिन होरहा था। कहीं कहीं तो जैनधर्मावलम्बियोंमें जिनेन्द्रपूजा भी न हो सकती थी।[2] कहीं कहीं बहुत-सारे श्रावक-श्राविकाओं पर उनके पड़ोसी विधर्मियोंके आचार विचारका प्रभाव पड़ता था। जैनी उनके देखादेखी लोकमूढ़ताओंमें पड़ जाते थे; पर जिनदेवको तब भी न भूलते थे। धर्मीदेवी सती हुई–अग्निमें जल मरी पर अपने इष्टदेव जिनदेव और जैन धर्मगुरुको न भूली। एपिग्राफिका जैन बस्तिके लेख नं० ५६ से स्पष्ट है कि बोका चौकीदार और उसकी माँ जक्कम्म एवं केतिय और उसकी पत्नी चन्दुदेवीने सन्यास मरण किया और कालहस्तिदेवमें लीन हो गये।[3] यहाँ कालहस्तिदेव नाम शैव मतके प्रभावको व्यक्त करता है– जैसी कालदेवमें विलीन हुए–स्वर्गवासी हुये शासकके स्वामस्य 'लिंग में लीन हुये कह गए हैं। जैन पूजामें जिनदेवके

१–जैशि० पृ ११२। 2–ASM; 3–Ibid, 1836, p. 142.

लिये 'अङ्गभोग' देनेका[1] भी उल्लेख हिंदू मंदिरोंमें अङ्गभोगका स्मरण करता है। किन्तु इसके साथ ही, यह बात नहीं भुलाई जा सकती कि उस समुदार कालमें जैनियोंकी मान्यताओंका प्रभाव भी हिंदुओं-पर पड़ा था। कट्टर वर्णाश्रमी होते हुये भी, हिन्दुओंने अछूतोंको धर्मकार्यमें स्थान दिया था,[2] यह जैनियोंकी समुदार धर्मनीतिका ही परिणाम समझना ठीक है। यही नहीं, हिन्दुओंने जैनी देव देवियोंको भी अपनाया था। सिद्ध भगवान और पद्मावतीदेवी उनके निकट 'पद्माक्षी' देवी और 'सिद्धेश्वर' देव होगये थे।[3] जैन मुनियोंके दिगम्बर भेषका प्रभाव शैव और वैष्णव साधुओं पर पड़ा था—उन्होंने भी 'परमहंसवृत्ति' धारण की थी।[4] उनकी मूर्तियां भी पद्मासन जिनमूर्तिसे मिलती जुलतीं बनाई गई थीं।[5] जैन ही नहीं, हिन्दुओं पर उस समय मुसलमानोंका भी असर हुआ था—जनार्दनका एक नाम 'अल्लाल् नाथ' इसी समय रक्खा गया था।[6] दिलावरखा जैसे मुसल-मान जब हिन्दू मंदिरोंको दान देते थे,[7] तब यदि 'अल्लाह' के नामसे हिन्दू अपने देवको पुकारने लगे, तो आश्चर्य ही क्या? मत सहिष्णु-तामें ही ज्ञानधर्म चमकता है और मानव अपना और पराया हित साध सकता है!

प्रान्तीय शासक जैनी थे।

इस प्रकारकी समुदार धर्म-प्रवृत्तिके कालमें विजयनगरके कतिपय

1–Ibid 2–Ibid ३–माइजै०, भा० २ पृ० १६–१७। ४–परिमानकाचार्य आदि परमहंस साधु थे। ASM, 1942, p 294. ५–Ibid. ६–Ibid. ७–Ibid, 1941, pp 153–154.

(सम्राट् और उनके वंशज ही जैनधर्मके अनुयायी रहे यही नहीं, बल्कि विजयनगर साम्राज्यके कई प्रान्तीय शासक और सामन्त भी जैन धर्मके माननेवाले थे। जैन धर्मकी मान्यताने उनके जीवन अनुसार बनाये थे। जैसी शासक न्यायशील और प्रजाके रक्षक होते थे, वैसी सेनापति शौर्यके आगर और न्यायके आधार थे जैन वणिक सच्ची देश और धर्मके रक्षक और वर्द्धक थे। सारांशतः जैनधर्मका प्रभाव इस समय भी मानव जीवनको समुन्नत बनानेमें कार्यकारी था।

विजयनगरके राजकुमार और जैनधर्म।

विजयनगरके सम्राटोंके अतिरिक्त उनके राजकुमारोंने भी जैन धर्मको प्रश्रय देकर उसे उन्नत बनाया था। राजकुमार हरिहरने कनकगिरिके जैन मन्दिरके लिये ग्राम देकर अपनेको सर्वप्रिय बनाया था। उन्होंने जिनेन्द्रदेवको श्री विजयनाथदेव कहकर पुकारा था। इससे जिनदेवमें उनकी आस्था स्पष्ट होती है। उनके पुत्र राजकुमार विरुपाक्ष भी उन्हींकी तरह जैन धर्मपर सदय हुए थे। मल्लराजकुमार जब यह शासन कर रहे थे तब उन्होंने चडगालकी पार्श्वनाथ बस्तिकी जमीनका विश्वास स्थान करके जैन स्थानकी रक्षा की थी।

विजयनगरके सामन्त और जैनधर्म।

विजयनगरके सामन्त शासकोंमें कोंगल्व चांगल्व सालुव, चेलोप्पेके शासक और कारकलके भैरस ओडेयर विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने जैनमतको उन्नत बनानेमें सक्रिय भाग लिया था। कारे सामन्तोंमें आवलिनाडके शासक, गुप्पूर, सोमपुराद, मिरिडर

बानुजसीमे, नगोहल्लि इत्यादि स्थानोंके महाप्रभु जैनधर्मके अनन्य भक्त थे। यह सामन्तगण विजयनगर सम्राटोंकी छत्रछायामें अपने२ प्रान्तपर स्वाधीन शासन करते थे और समय २ पर सम्राट्के लिये युद्ध लड़कर सम्मान प्राप्त करते थे।

कोङ्गल्व एवं चाङ्गल्व वंशके जैन शासक।

कोङ्गल्ववंशके नरेशोंने जैनधर्मके लिये भूमिदान दिये थे, परन्तु अन्तमे वे भी वीर शैव धर्ममें मुक्त हुये थे। वीर शैव होने पर भी उन्होंने जैनोंको समदृष्टिसे देखा था।[१] चङ्गनाडके चाङ्गल्व नरेश भी वीर शैव धर्ममें दीक्षित हुये थे, किन्तु फिर भी वे जैनधर्मको भुला न सके। चाङ्गल्व नरेशोंने अपने स्वामी विजयनगरके सम्राटोंकी उदार धर्मनीतिका अनुकरण किया था। उन्होंने जैनियों और वीर शैवोंका परस्पर मेल करानेके सद् प्रयत्न किये थे। कहते हैं कि वे अपने इस प्रयासमें सफल हुये थे। जैनों और शैवोंमें परस्पर प्रेम संबन्ध स्थापित हुये थे। उस समयके बने हुये ऐसे शिवलिङ्ग मिले हैं, जिन पर दिगम्बर जिन मूर्तियां बनी हुई है। उनको पूजनमें न वीर शैवोंको विरोध था और नहीं ही जैनियोंको।[२] चाङ्गल्व नरेश स्वयं जैनधर्मके धारी रह चुके थे। एक चाङ्गल्व नरेशने चिक हनसोगे स्थानपर 'त्रिकूटाचल–जिन–वस्ती' नामक जिनमदिर बनवाया था।[३] चङ्गाल्व नरेशोंमें उनके अन्तसमय तक जैनधर्मका प्रभाव कार्यकारी

१–सभैइ०, भा० ३ खंड २ पृ०१५६ एव मेजै०, पृ० ३१३।
२–मेजै०, पृ० ३१५। ३–संभैइ०, भा० ३ खंड २ पृ० १५३

था यह बात चाङ्गल्वनरेश विक्रमराय (सन् १५५७ ई०) के दानपत्रसे स्पष्ट है। उस दानपत्रमें जिनेन्द्रको नमस्कार करके लिखा है कि चाङ्गल्वनरेशने अलीभट्ट नामक ब्राह्मण विद्वानको एक गांव भेंट किया। सम्भव है अलीभट्ट भी जैनधर्म भुक्त हों। नमस्कार वाक्य दाताको जिनेन्द्र मतका उपासक सिद्ध करता है।

राजमंत्री चेन बोम्मरस।

सन् १५०९ ई० में चेन्नबोम्मरस नामक जैनी श्रावक चाङ्गल्व नरेशके राजमंत्री थे। बोम्मके वंशमें अनेक पुरुष राजमंत्री रहे थे और वे सब जैनधर्म–प्रभाव–प्रतिपालक प्रख्यात थे। स्वयं बोम्मेय मंत्री 'सम्यक्त्व–चूडामणि' कहे जाते थे। वह मल्लराय पट्टनमें रहते थे, जहां उनके कारण जैनधर्म उन्नत बना हुआ था। वहां अनेक भव्य जैनी रहते थे। उन्होंने बोम्मरसके साथ मिलकर अरहन्तदेवोंमें गोम्मटस्वामी मूर्तिके चलिवाड (arbour) का जीर्णोद्धार कराया था।[1]

दंडाधिप मङ्गरस।

किन्तु चाङ्गल्व नरेशोंके राजकर्मचारियोंमें दंडाधिप मङ्गरसका स्थान सर्वोपरि है। मङ्गरस चाङ्गल्वराजके सेनापति थे और साथ ही जिनधर्मके अनन्य भक्त और प्रतिभा–सम्पन्न कवि भी थे। उनके पिता महाप्रभु विजयपाल चाङ्गल्व–नरेशके राजमंत्री और कल्लहल्लि नामक स्थानके शासक (चाकराज) थे। उनकी माता देविले थीं। मङ्गरसके माता पिता धर्म–वत्सल श्रावक थे। उनकी धार्मिकताकी–छाप मङ्गरसके हृदय पर अमिट थी। किन्तु अहिंसा धर्मके अनन्य

१–मैजै पृ ११६। २–वही पृ ११७।

उपासक होते हुये भी मङ्गरसका शौर्य और भुजविक्रम लोक विख्यात था। वेडर नामक आरण्यगामी लोग सभ्य जीवनके लिये कंटक हो रहे थे, अहिंसा संस्कृतिकी गति मतिको आगे बढ़ानेके लिये वेडरोंको शक्तिहीन करना आवश्यक था। वीर मङ्गरस जंगली जातिके उन लोगोंके विरुद्ध जा डटे। घोर युद्ध हुआ। अन्तमें वेडर परास्त हुये। चाङ्गल्व नरेश विक्रमराय यह सुनकर प्रसन्न हुये। मङ्गरसके शौर्यकी उन्होंने प्रशंसा की। मङ्गरसने अपनी इस विजयको 'बेट्टदपुर' बसाकर मूर्तिमान बनाया था। उन्होंने कल्लहल्लि, चिलुकुण्ड, मलराज पट्टण, पलुपारे आदि स्थानोंपर दुर्ग बनवाये थे और कई अन्य स्थानों पर तालाब खुदवाये थे। मङ्गरसने कई जिनमंदिर बनवाये थे, परन्तु उनमें 'यमगुम्बबसति' नामक जिनमंदिर उल्लेखनीय था। उस मंदिरमें उन्होंने भ० पार्श्वनाथ, पद्मावतीदेवी और चन्निगरायकी मूर्तियां स्थापित कराई थीं और बड़ा उत्सव मनाया था।

संगीतपुरके सालुवनरेश और जैनधर्म।

यद्यपि चाङ्गल्व नरेशोंने जैनधर्मोत्कर्षके लिये जो कार्य किये वे प्रशंसनीय थे, परन्तु संगीतपुर जेरसोपे और कारकलके सामन्त शासकोंने जैनधर्मके लिये अटूट परिश्रम किया था। संगीतपुर (हाडु-हल्लि) से काश्यपगोत्री चन्द्रवंशी सालुवनरेश तौलव देशपर शासन करते थे। सन् १४८८ ई०के एक शिलालेखमें जो संगीतपुरका

१–मेमै० पृ० ३१५–३१६ मङ्गरसके पूर्वज द्वारावतीसे आठसौ जैन कुलोंके साथ आकर कुर्ग देशमें बसे थे और कल्लहल्लि पर शासन करते थे। (रा० शर्मा)

चित्रण किया है उससे उस नगरकी समृद्धि और वहांके धर्मके गौरवका पता चलता है। उसमें लिखा है कि 'तौलवदेशमें संगीतपुर सौम्य भाव ही निकेत था—उसमें उत्तुंग चैत्यालय बने हुये थे। वहांके सुखी उदार और भोग विलासमें निमग्न नागरिक रहते थे और हाथी घोड़ोंसे वह भरपुरा था संगीतपुरमें महान् योद्धा उच्चकोटिके कविगण, वादी और गमक रहते थे। वह नगर सरस्वतीका आवास होरहा था, क्योंकि वहां उच्च साहित्यका निर्माण होता था। संगीतपुर अपनी कवित्व चमत्कारके लिये भी प्रसिद्ध था। उस महान् नगरमें उस समय महामण्डलेश्वर साळुवेन्द्र शासनाधिकारी थे। वह साळुवेन्द्र नरेश जिनेन्द्र चंद्रप्रभप्रभुके चरण चचरीक बने हुये थे। उनका हृदय सनातन धर्मके लिये सुन्दर मंजूषा था। उन्होंने संगीतपुरमें अतीव उत्तुंग और नयनाभिराम जिनचैत्यालय बनवाये थे, जिनमें विशाल मंडप और सुन्दर मानस्तंभ बने हुये थे। धातु और पाषाणकी अगण्य मूर्तियां भी उन्होंने निर्माण कराई थीं। नगरमें मनोरम पुष्प वाटिकायें बनवाकर उन्होंने नगरकी शोभाको बढ़ाया था। नागरिक उनमें जाकर आनन्दकेलि करते थे इतने पर भी साळुवेन्द्र नरेशको इस बातका ध्यान था कि नगरमें धर्ममर्यादा अक्षुण्ण रहे। इसीलिए वह मंदिरोंकी धर्मव्यवस्था ठीक रखनेके लिये सतर्क रहते थे। मंदिरोंमें नियमित धर्म क्रियायें होती रहें इसके लिए उन्होंने दान-व्यवस्था की थी। देवपूजा चतुर्विध दान और विद्वानोंको वृत्तिदानके लिये भी व्यवस्था की गई थी। सारांश यह कि साळुवेन्द्र नरेशने राजत्वके आदर्शको और धर्म मर्यादाको ठीक तरहसे निबाहा था। जिनेन्द्रके वह 'निरंजन' भक्त थे।

राजमन्त्री पद्म।

सालुवेन्द्र नरेशके राजमन्त्री पद्म अथवा पद्मण थे। वह भी राजवंशके ही रत्न थे। राजमर्यादाको स्थिर रखनेमें उनका उल्लेखनीय हाथ था। इसीसे प्रसन्न होकर सालुवेन्द्रने उनको ओगेयकेरे नामक ग्राम भेंट किया। किन्तु पद्म इतने समुदार और धर्मवत्सल थे कि उन्होंने वह ग्राम जिन धर्मके उत्कर्षके लिये दान कर दिया। संभवतः उन्होंने अपने नाम पर 'पद्माकरपुर' नामक ग्राम बसाया था और सन् १४९८ ई० में उन्होंने उस ग्राममें एक भव्य जिनालय निर्माण कराकर उसमें भ० पार्श्वनाथकी मूर्ति विराजमान की थी। महामंडलेश्वर इन्द्रगरस ओडेयरकी इच्छानुसार उन्होंने उसके लिये भूमिदान दिया था।

महामंडलेश्वर इन्द्रगरस भी महामंडलेश्वर संगिराजके पुत्र थे। सालुवेन्द्र नरेश संभवतः संगिराजके ज्येष्ठ पुत्र थे। इन्द्रगरस इम्मडि सालुवेन्द्र नामसे भी विख्यात थे। उनका नाम सैनिक प्रवृत्तियोंके कारण खूब चमक रहा था। सन् १४९१ के एक लेखमें उनके शौर्यका बखान है और लिखा है कि उन्होंने शौर्यदेवताको जीत लिया था। बिडिरू (वेणुपुर) की वर्द्धमानस्वामी बसदिसे प्राचीन भूमिदानका पुनरुद्धार करके उन्होंने जैनधर्मको उन्नत बनाया था।

सालुव मल्लिरायादि जैनधर्मके आश्रयदाता।

आगे संगीतपुरके सालुव नरेशोंमें सालुव मल्लिराव, सालुव देवराय और सालुव कृष्णदेव जैनधर्मकी अपेक्षा उल्लेखनीय हैं। कृष्णदेवकी माता पद्माम्बा विजयनगर सम्राट् देवराय प्रथमकी बहन थीं। सन् १५३० ई० के दानपत्रसे स्पष्ट है कि इन तीनों राजाओंके

प्रसिद्ध जैन गुरु वादी विद्यानन्दको सम्मान दिया था । साळुव मल्लिराय और साळुव देवरायके राजदरबारोंमें वादी विद्यानंदने परवादियोंसे सफल वाद किया था । कृष्णदेवने उनके पादपद्मोंकी पूजा की थी ।¹ इसी वंशके राजाओंने विजयनगरके राजसिंहासन पर अधिकार किया यह लिखा जा चुका है ।

गुरुराय और भैरवनरेन्द्र जैनधर्म प्रभावक थे ।

सन् १५२९ ई० के एक लेखसे स्पष्ट है कि सम्राट् कृष्णरायके शासनकालमें गुरुराय संगीतपुरमें सामन्तरूप शासन करते हुए थे । उनका सम्बन्ध पेरुगोप्पेके सामन्तोंसे था । भैरेन्द्र गुरुराय भी अपने पूर्वजोंके अनुरूप जैनधर्मके अनन्य भक्त थे । वह 'जिनधर्मपूजक — जिनधर्म पताकाको फहरानेवाले — सर्वोत्तम जिनमंदिरों और मूर्तियोंके निर्माता' और जिनमन्दिरोंकी शिखरों पर स्वर्णकलशोंको चढ़ानेवाले' कहे गये हैं । इन विरुदोंसे उनकी जैनधर्मके प्रति दृढ़ श्रद्धा स्पष्ट प्रकट होती है । इसी वंशके जैनधर्मोत्तम आचार्य वीरसेनकी आज्ञानुसार वेणुपुरकी त्रिभुवन चूडामणिबस्ती की व्यवस्था राजाके द्वारा कराये थे । उनके राजगुरु पंडिताचार्य (वीरसेन ?) थे और कुलदेव भ० पार्श्वनाथ थे । उनकी रानी नागलदेवी भी जैन धर्मकी उपासिका थीं । उन्होंने वहीं मंदिरके सामने एक सुन्दर मानस्तम्भ बनवाया था । उनकी दो पुत्रियां लक्ष्मीदेवी और पंडितादेवी नामक थीं । वे निरन्तर जैन साधुओंको दान दिया करती थीं । भैरव नरेश जब राज्यारूढ़ हुये तो उससे मुक्त होनेके लिए उन्होंने जिनपूजाके हेतु दान दिया था ।

१–मैडि० पृ ११४–११८. २–[illegible] (MES), [illegible]

सारांशतः सालुव राजवंशमें जैन धर्मकी मान्यता ही नहीं, बल्कि उसका महती उत्कर्ष उसके द्वारा हुआ था।

जेरसोप्पेके शासकगण और जैनधर्म।

जेरसोप्पे अथवा गेरसोप्पेके शासकगण भी विजयनगर सम्राटोंके सामन्त और प्रारम्भसे ही जैनधर्मके अनुयायी थे। उनका सम्बन्ध संगीतपुर और कारकलके जैन राजाओंसे था। इनके सद्कार्योंने गेरसोप्पेका नाम जैन संघके इतिहासमें अमर बनाया था। चौदहवीं शताब्दिके अन्तिमपादमें मङ्गभूप अथवा मङ्गराज नामक नरेश अपने धर्मकर्मके लिये प्रसिद्ध थे। जक्कब्बरसि उनकी रानी थी। राजकुलमें निरन्तर धर्म कार्योंकी चर्चा रहती थी। उससे प्रभावित होकर मंगराजके बहनोई पद्मण्णारमने भ० पार्श्वनाथकी पूजाके लिये भूमिदान दिया और मंदिरका जीर्णोद्धार कराया, अपनी स्वर्गीय रानी तगलदेवीकी आत्माको शांति पहुंचानेके लिये इन्होंने यह दान दिया था। मंगराजके पुत्र नृप हयवण्णरस थे। उनकी रानी सान्तलदेवी बोम्मण-सेट्टिकी पुत्री थीं। यह दम्पति अन्तरजातीय क्षत्रिय–वैश्य विवाह सम्बन्धका जीवित आदर्श था। सान्तलदेवी जिनेन्द्रदेवकी अनन्य उपासिका थीं। व्रत-उपवास करते हुये पवित्र जीवन व्यतीत करके उन्होंने समाधिमरण किया था।[1]

इम्मडि देवराय ओडेयर।

सन् १५२३ ई०में गिरिसोप्पेके आदर्श शासक इम्मडि देवराय ओडेयर थे जिनका सुप्रख्यात नाम देवभूप था। वह पाण्ड्यनरेशकी

१–मेजै० पृ० ३६२।

सत्कार्योंका प्रभाव प्रजामें प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक था । गिरिसोप्पेके नागरिकोंने जिनधर्म-मन्दाकिनी कैसी उन्नत बनाई है यह पाठक आगेके एक प्रसंगमें पढ़ेंगे ।

कारकलके भैरस शासक और जैनधर्म ।

कारकलके भैरस ओडेयर शासकगण भी विजयनगर साम्राज्यमें शक्तिशाली सामन्त थे । उनका राजकुल मथुराके उग्रवंशी राजाओंसे सम्बंधित था, जिनमेंसे राजा साकारका पुत्र जिनदत्तराय दक्षिण भारतमें आकर शासनाधिकारी हुआ था । उन्हीं जिनदत्तरायके वंशज कारकलके भैरसु नरेश थे। इस वंशके आदि नरेश भैरव अरसु पोम्बुचके निकट कैरवसे नामक स्थानपर महल बनाकर रहने लगे थे । एक दिन यह नरेश अपने महलसे दक्षिणकी ओर जमीन देखने गये तो उन्होंने वहां एक कारे वृक्षके नीचे गाय और सिंहको साथ साथ प्रेमसे प्रसन्नतापूर्वक बैठे हुये देखा । उस स्थानको महत्वशाली जानकर उन्होंने वहां एक सुंदर जिनमंदिर बनवाया और उसमें अपने कुलदेवता नेमीश्वरस्वामीकी मूर्ति स्थापित की । कार वृक्ष तले गऊ और सिंहको इकट्ठा पानेके कारण उन्होंने अपनी राजधानीका नाम भी कारकल रक्खा था । उनकी विरुदावली निम्न प्रकार थी —

"स्वस्ति श्री महामण्डलेश्वर, अरिरायगंड, आदिदभापेगे तप्पुव रायर गंड, मेरे होक्कपर कायुव, मरेता गेलुव, मलुवटा निष्कलंक, परनारी सहोदर, अरवत्तनाल्कु-मंडलिका-गंड, शुचिहनिवर-गंड, पोम्बुच-पुरवराधीश्वर, सुवर्णकलशस्थानाचार्य, श्री वीर भैरवेन्द्र अरसु,

मंदिर निर्माण किया था। राजा लोकनाथके शासनकालमें सन्० १३३४ ई० में उनकी ज्येष्ठ भगनियोंके अन्य राज्याधिकारियोंके साथ इस मंदिरको भूमिदान दिया था। वे दोनों बहनें बोम्मलदेवी और सोमलदेवी जैनधर्मकी अनन्य उपासिका थीं। राज्याधिकारियोंमें अल्लप अधिकारी अपनी धार्मिकताके लिये प्रसिद्ध थे। 'लोकनाथकी विरुदावलीमें 'समस्तभुवनाश्रय'—'श्रीपृथ्वीवल्लभ' और महाराजाधिराज' विरुदोंसे स्पष्ट है कि वह एक हद तक स्वाधीन शासक थे।'[1]

हनसोगेके भट्टारकगण और भैरव नरेश।

उपरान्त जब कारकलके इन जैन शासकोंपर लिंगायत मतका प्रभाव पड़ा, तो हनसोगेके जैनगुरु आगे आये और उन्होंने इन राजाओंका मन पुनः स्याद्वाद सिद्धान्तके प्रति ऋजु किया। हनसोगेके भट्टारक ललितकीर्ति मलधारिदेवके उपदेशसे भैरवेन्द्र नरेश और चन्दलाम्बा पुत्र वीरपाण्ड्य नृपेन्द्रने कारकलमें एक विशालकाय गोम्मटप्रतिमा निर्मापित कराई थी। उस विशाल मूर्तिकी प्रतिष्ठा महोत्सव बुधवार सन् १४३२ को बड़े उत्सवसे किया गया था! कारकलके निकटवर्ती ग्राम हिरियङ्गडिमें स्थित हिरे नमीश्वरवसदिको भी इन्होंने दान दिया था।[2] सन् १४३१ ई० में यही नरेश श्रवणबेलगोलके गोम्मटेश्वर मूर्तिके लिये दान दे चुके थे।[3] भट्टारक ललितकीर्तिका प्रभाव राजा और प्रजामें धर्मोद्योतके लिये कार्यकारी हो रहा था। हिरियङ्गडिके व्यापारियोंने उनके ही उपदेशसे सन्

१—मेजै०, पृ० ३६१, २—मेजै०, पृ० ३६२, ३—मद्रास मैसूर स्मा०, पृ०

१४७५–७६ ई में यहींको तीर्थङ्कर बसतिका मुखमंडप बनवाया था।[1] बीरपांड्यका अन्यनाम पाण्ड्य क्ष्मापति भी अनुमान किया गया है, जिन्होंने गम्मटस्व शास्त्र रचा था।[x]

शासनकर्ता काललदेवी।

बीरपांड्यकी बुआ और भैरवेन्द्र नरेशकी छोटी बहन कालकदेवी चतुर्मुखशोमे नामक स्थान पर शासन करतीं थीं। यह रानी भी अपने भाई भतीजोंके अनुरूप जैनधर्मकी उपासिका थीं। सन् १५१० ई० इन्होंने अपने राज्यमें जैनधर्म प्रचारका विशेष प्रबन्ध किया था। चारुकीर्ति सम्प्रदायों (जैनियों) का प्रमुख केन्द्र था। कारकलीके पार्श्व-तीर्थङ्कर कालकदेवीके कुलदेवता थ। जब उनकी पुत्री रामदेवीका असामयिक स्वर्गवास हुआ तो कालकदेवीने उनकी स्मृतिमें अपने कुलदेवताकी दैनिक पूजा और प्रसादके लिये भूमिदान दिया था। कुछ समय पहले इसी बसदि (मंदिर) को बोम्मि नामक महाप्रभुने दान दिया था। रानीने महाप्रभुके दानको भी बढ़ा दिया था। कालक महादेवी द्वारा जैन धर्मका उत्कर्ष विशेष हुआ था।

राजा इम्मडि भैरवेन्द्र और जैन धर्म।

राजा इम्मडि भैरवेन्द्र ओडेय अपनेको वृद्धि पेम्पुतपुराधा-स्यमनाधिपति कहते थ। उन्होंने कारकलमें विशाल चतुर्मुखबसति ? नामक मंदिर निर्माण करके जिनधर्मे भक्तिका परिचय दिया था। बुधवार १६ मार्च सन् १५८६ ई० को उस मंदिरका प्रतिष्ठापन

१–जैमे भ १६६, १४–जैन म० १ म ० पृ १८
२–जैमे पृ १२ –१११

सम्पन्न हुआ था। सन् १५९८ में उन्होंने कोप्प ग्रामके साथन चैत्यालयके भ० पार्श्वनाथके निमित्त भी दान दिया था। पाण्ड्य नायकने इन भगवान्की मूर्ति प्रतिष्ठित कराई थी।[1] सन् १६४६ ई० में इम्मडि भैरवेन्द्रने कारकलके विशालकाय गोम्मटेश्वर-मूर्तिका महामस्तकाभिषेक उत्सव बड़ी शानसे मनाया था। भैरवेन्द्रने कवि चन्द्रम्को आश्रय दिया था, जिन्होंने भ० ललितकीर्तिकी आज्ञानुसार 'कारकल-गोमटेश्वर-चरिते' ग्रन्थ रचा था। हिरियङ्गडिकी अम्मनवर-वस्ती नामक जिन मन्दिरको भी सम्भवतः इन्हीं भैरवराज ओडेयरने दान दिया था।[3]

इन्हीं इम्मडि भैरवनरेशका एक शिलालेख कारकलकी पहाड़ी पर स्थित चौमुखा मन्दिरमें निम्न प्रकार है —

सारांशतः कारकलके भैरव अरसुनरेशों द्वारा जैन धर्मकी उन्नति विशेष हुई थी। विजयनगर कालके वे स्वाधीन शासक थे।

"श्री जिनेन्द्रकी कृपासे भैरवेन्द्रकी जय हो। श्री पार्श्वनाथ सुमति दें। श्री नेमि जिन बल व यश दें। श्री अरह, मल्लि, सुव्रत ऐश्वर्य दें। पोम्बुचाकी पद्मावती देवी इच्छा पूर्ण करे। पनसोगाके देशीयगणके गुरु ललितकीर्तिके उपदेशसे सोमकुली, जिनदत्तकुलोत्पन्न, भैरव राजाकी बहन गुम्मतम्बाके पुत्र, पोमच्छपुरके स्वामी, ६४ राजाओंमें मुख्य, बागनगरके राजा, न्यायशास्त्रके ज्ञाता काश्यपगोत्री इम्मडि भैरवने 'कपिकल (कारकल) की पाण्ड्यनगरीमें श्री गोम्मटेश्वरके

१-मेजै०, पृष्ठ २६३। २-मेजै०, पृष्ठ ३८५। ३-ममेप्राजैस्मा०, पृ० १२८।

सामने विजयदेवा चैत्यालय बनवाया गया तथा शालिवाहन सं० १५ ८ चैत्र सुदी ५ को श्री आर महि तथा कुन्थुकी मूर्ति चारों तरफ स्थापित कीं व पश्चिममें २४ तीर्थंकर स्थापित किये। इनके अभिषेकके लिए तैलपाक ग्राम दिया। यह सब इन्द्रवज्र छंदमें स्वयं महाराजने स्पष्ट लिखा है।"[1] इस वर्णनसे इम्मडि भैरवरेसका ऐश्वर्य, धर्मभाव और विद्याप्रेम स्पष्ट है।

भैरव वारसनरेशोंके धर्मेकृत्य।

भैरव वारसुनरेशोंके शिलालेखोंसे उनका जैनधर्म प्रेम और अनुराग स्पष्ट है। सन् १४०८ ई०में २७ अगस्तको जब भैरवदेवीने समाधिमरण किया तो उनकी निषधि बनाई गई। भैरवरस राजाओंके सामन्त भी जैनधर्मके प्रभावक रहे थे। शाकुवलिमें शाकंभेन्द्रकिशिनवे कंबीलपुरके दक्षिणार्थ परमगुरुके उपदेशसे १३ जून सन् १४८४को चंद्रप्रभ जिनकी प्रतिमा और मानस्तंभ निर्माण कराये थे। मुदुबद्रकमें अकलंक गुरुके शिष्य धनराजने एक चैत्य निर्माण कराया। उनकी रानी गंधान्नायी भामिनीदेवी महाधार पालनेमें दृढ थीं। १० अक्टो० सन् १४० ई० को उन्होंने सल्लेखना विधिसे प्राण विसर्जन किये। श० ११५१ में अभिनव चारुकीर्तिके शिष्य भैरवने त्रिभुवनचूडामणि चैत्य नामक मंदिर मलावकीपुर धर्मपेठपुर चंद्रपुरी और होपावरमें बनवाये थे। वेणुपुरके चन्द्रविभवेदिका उन्होंने वीर सेन गुरुकी आज्ञानुसार पीतलसे मंढवाया था। इनकी रानी नागलने मानस्तंभ बनवाया था। पौष शुद्ध १ बुधवार सं० १३८४ को जब

१–एपीग्राफिया० भा० ११–१११ २–जैसे० [illegible] १४ [illegible]

चगिरहिरे भैरव बहुत बीमार थे, तो उन्होंने विदिरे चन्द्रनाथको भूमिदान दिया । उनके छोटे भाई भैरस और अभिमाय बेल्गोलके पंडितदेवके शिष्य थे । क्षेमपुरमें भैरवद्वीन मंडप बनवाया था । हुमचाके अभिनव पाण्ड्य नरेश मलधारी ललितकीर्तिके शिष्य थे। (जैऐ०, भा०९ पृ० ७३–७४) ।

अवशेष सामंत और जैनधर्म ।

लक्ष्मी बोम्म और उनके पति बोम्मरस ।

अवशेष सामन्तोंमें आवलिनॉड–नरेश, सोहाराव और कुप्पटूरके महाप्रभु, मोरासुनाड, बिदिरूर, बागुलिसीमे, नागेहल्लि आदि स्थानोंके शासक भी जैनधर्मके भक्त और उसकी प्रभावना करनेवाले थे । सोहाव बीर गौडकी पुत्री और आरवमहाप्रभू तवनिधि बम्मकी रानी लक्ष्मी बोम्मक जैनधर्मकी दृढ श्रद्धालु उपासिका थी । उनके गुरु बलात्कारगणके सिंहानन्द्याचार्य थे, जिनके उपदेशानुसार लक्ष्मीने अनेक धर्म कार्य और उपवास किये थे । सन् १५७२ ई०में उसने समाधिमरण किया ।[१] लक्ष्मी बोम्मलेके पति बोम्मरस भी जैन धर्मके दृढ उपासक थे । वह सुहराव और स्तवनिधि दोनों स्थानों पर शासन करते थे । शिलालेखमें इन दोनों स्थानोंकी तुलना अमरावती और अलकावतीसे की गई है; जिससे उनका वैभवशाली होना स्पष्ट है । किन्तु बम्म मुख्यतः स्तवनिधिमें ही रहते थे । वह हरिहर द्वितीयके सामन्त थे । बम्म (बोम्मरस) के विरुद 'श्रीमान् आनुव महाप्रभु, अष्टादश–कंपण–शिरोमणि, महाप्रभूगल–आदित्य, उनके ऐश्वर्यको प्रगट करते हैं ।

१–मेजै०, पृ० ३२०।

वृत्तिके १८ कम्पणोंकी गौड़–सभामें एक पंचायत बनवासीमें बुलाई थी उसके प्रमुख ब्रह्म रहे थे । तारीफ यह कि प्रजा ब्रह्मको अत्यन्त तथा हितैषी मानती थी । वह एक आदर्श शासक जो थे । जैन धर्म उनके रोम–रोममें समाया हुआ था । उनको साक्षात् पुण्याकार और मेरुधैर्य कहा जाता था । धर्मके मंगलरूप जैनपुरुषप्रधान उन्होंने पुरस्कार किया था । उनकी सत्कीर्ति भुवनविख्यात् थी । उनका दृढ़ सम्यक्त्व था । इसी लिये ब्रह्मने प्रतिज्ञाकी थी कि मैं जिनदेवके अतिरिक्त किसी अन्य देवको नमस्कार नहीं करूंगा । उस समय जैन धर्मकी स्थिरताके लिए इस प्रकारकी प्रतिज्ञायें करना आवश्यक थीं। जिनदेव ही एकमात्र उनके हृदयासन पर विराजमान थे । अतः कामदेवकी भक्तिके लिये उनके चित्तमें स्थान ही नहीं था । रामके-भृत्यों और धर्मात्माओंके लिये वह सहोदर थे । कामदेवको उन्होंने जीत लिया था । शान्तिनाथ उनके पिता और चकव्वे उनकी माता थीं । पार्श्वसेन उनके गुरु थे । जैनी मात्र उनके सगे सम्बन्धी थे । ऐसा उनका वात्सल्य धर्म था । निस्सन्देह वह एक महान् और कीर्ति-शाली, सम्यक्त्वरत्नाभूषित, जैनमताभिवर्द्धनरत और सत्कीर्तिप्रका-शक थे । उनके समान लोकमें और कोई नहीं था । अनन्त गौरवयुक्त शासनविभव भोगकर ब्रह्मने शक सं० ११ १ में सन्यास ग्रहण करके स्वर्गलोकको प्रयाण किया था । (ASM 1942 pp. 181-184 Tarunandl Inscrip: No 63).

रायनिधिके सामन्त जैनधर्मप्रचारक ।

इससे पहले भी रायमिधि (रायनिधि) के सामन्त जैनधर्मके

अनुयायी थे। मादिगौडके पुत्रका नाम भी बोम्मण था। वह माघ-
चन्द्र मलधारिदेवके शिष्य थे। सन् १२७२ ई० में उन्होंने
समाधिमरण किया था। उनका एक राजकर्मचारी भी उन्हीं गुरुका
शिष्य था। उस समय जैनगुरु श्रावकोंको धर्ममार्गमें अग्रसर करते
रहते थे। सोहरावके महाप्रभू तम्मगौड़ क्षयरोगसे पीड़ित हुये। सन्
१३९४ ई० में वह घाट—पर्वतोंकी तलहटीमें नगिलेयकोप्प नामक
स्थानपर औषधि उपचारके लिये जा रहे थे। परन्तु उनको स्वास्थ्य
लाभ नहीं हुआ। वह लौट आये और अपने गुरु सिद्धांतदेवकी
शरणमें पहुंचे। गुरु महाराजने उनका अंत समय निकट जानकर
उन्हें सल्लेखना व्रत दिया। पंच नमस्कार मंत्रका जाप करते हुये
उन्होंने विधिवत् प्राण विसर्जित किये थे।[1] इस तरह सोहरावके
महाप्रभूओं द्वारा धर्मका उत्कर्ष विशेष हुआ था।

आवलिनॉडके महाप्रभु और जैन धर्म।

सोहराव स्तवनिधिके शासकोंके अनुरूप ही आवलिनॉडके
महाप्रभू भी जैन धर्मके अनन्य उपासक थे। उनके संरक्षणमें जैन
धर्मका उत्कर्ष इस प्रदेशमें ऐसा हुआ था कि वैसा उस समय अन्यत्र
कहीं भी नहीं हुआ था। आवलिनॉडके महाप्रभू शासकोंके साथ
यहांके सरदार, राजमहिलायें और नागरिक भी जैन धर्म प्रभावनाके

१-मेजै० पृ० ३३५।

२-"The Mahaprabhus of Avalinad by their stead-fastness to the service of the Jaina Dharma had raised religious zeal to a height which it rarely attained anywhere in those days"
—Dr Saletore, मेजै० पृ० ३३३.

धर्म जनमें जगमगा रहे थे। चौदहवीं शताब्दिके मध्यसे पन्द्रहवीं शताब्दिके प्रथम पाद तक यहां पर जैन धर्मका अभ्युदय खूब ही हुआ। राजा और प्रजा—सब ही जैन धर्मके आचार-विचारोंमें रंगे हुये थे और जैन नियमोंको पालनमें गर्व करते थे। वे धार्मिक जीवन बितानेके साथ ही अन्त समयमें धर्म विधिपूर्वक ही अपनी ऐहिक जीवन समाप्त करते थे। जैन गुरु निरन्तर श्रावक संघको धर्म कर्मोंके लिए सावधान करते रहते थे। अनेक श्रावकोंकी निषिधिकायें आज भी श्रवणबेलगोलकी धार्मिकताको प्रगट करती हैं। सन् १३५२ ई० में श्री रामचन्द्र मलधारिदेवके शिष्य कामगौडने समाधिमरण पंचनमस्कार मंत्रकी आराधना करते हुये किया था। उनके धर्माचरणका प्रभाव जनता पर इतना अधिक था कि उसने स्वयं उनकी स्मृतिको स्थिर रखनेके लिये निषिधिका बनवाई थी। सन् १३५७ में जब मल्लगौडने समाधिमरण किया तो उनकी पत्नी बेचक्कने उनके वियोगमें सहगमन किया। चन्द्रगौडके छोटे भाई सिद्धान्तदेव गुरुके शिष्य थे। सन् १३९९ में उन्होंने भी सन्यास लेकर स्वर्गगमन किया था। इस प्रकार पचपन वर्षों तक सन्यासमरण करना श्रवणबेलगोलके गौड प्रमुखोंमें एक माननीय प्रथा रही थी। श्रवणबेलगोलके महाप्रभुओंने ही सबसे बड़ा आदर्श जनताके समक्ष उपस्थित किया था। श्रवणबेलगोलके महाप्रभु चन्द्रगौडके पुत्र बैचिगौड जैनाचार्य श्री रामचंद्र मलधारिदेवके शिष्य थे। वह अपने गुरुके पादपद्मोंमें धर्म नियमोंका पालन करते थे। अन्त समयमें उन्होंने गुरुमुखसे पंचनमस्कार मन्त्रका स्मरण करते हुये सन् १३७८ में समाधिमरण किया था। इसके बादही, इन—अपनी

मुद्दिगौन्डिने 'सहगमन'-प्रथाका अनुसरण किया था—उसने भी अपने पतिके साथ अपनी ऐहिकलीला समाप्त कर दी थी। इसपर आवलिके अनेक प्रमुखोंने इस राज दम्पतिकी जिनधर्म—भक्तिको चिरस्थायी बनानेके लिये निषधिका बनवाई थी। शासनाधिकारी महाप्रभू बैचगौडकी भतीजी कामिगौन्डिने भी सन् १३९५ में समाधिमरण किया था। वह राजगुरु सिद्धांतियतिकी शिष्या थीं। १३९८ में महाप्रभू चन्दगौड शासन कर रहे थे। उनकी रानी चन्दगौन्डि आचार्य विजयकीर्तिकी शिष्या थीं। धर्म—कर्म करनेमें वह सचेत रहती थी उन्होंने भी अपनी ऐहिक जीवनलीला सन्यासमरण द्वारा समाप्त की थी। आवलि-शासक महाप्रभु रामगौडके पुत्र हारुवगौड मुनि भद्रदेवके शिष्य थे। सन् १४०८ ई० में उन्होंने भी अपने गुरुसे सल्लेखना व्रत लिया था। सन् १४१७ ई० में जब महाप्रभु अयप्पगौड शासन कर रहे थे, तब उनकी पत्नि कलिगौन्डिने भी समाधिमरण किया था।[1] इन उल्लेखोंसे पाठक समझ सकते हैं कि उससमय आवलिनॉडमें जैन धर्म किस व्यवहारिक रूपमें उन्नत हो रहा था।

कुप्पट्टूरके शासक और जैन धर्म।

इसी प्रकार कुप्पट्टूरके शासक भी जिनेन्द्र भक्त थे। यद्यपि कुप्पट्टूरमें ब्राह्मणोंका प्राबल्य था, किन्तु राजाश्रय पाकर जैनधर्म वहाँ भी उन्नतशील रहा था। पहले ही कदम्बवंशकी रानी माललदेवी जो कीर्तिदेवकी अग्रमहिषी थी, वहांपर सन् १०७७में 'पार्श्वदेव चैत्यालय' नामक जिनमंदिर बनवाया था। कुप्पट्टूरके ब्राह्मणोंने उसका नाम

१—मेजै०

'भव्यविनायक' लगाया और उन्होंने भी जिनमंदिरको दान देकर अपनी उदारताका परिचय दिया। इस मंदिरकी व्यवस्था मन्दमिके तीर्थके श्री पद्मनन्दि आचार्य करते थे।[1]

सावन्त मुद्दय्य।

सन् १२०७ ई० में कुप्पटूरमें सावन्त मुद्दय्यने भी एक सुंदर जिनमंदिर बनवाया था। मूलसंघ क्राणू गण तिंत्रिणीकगच्छके अनंत कीर्ति महाराज उनके गुरु थे। महादेवके राज्य—भूषण वह समझे जाते थे। वह धर्मात्मा और दानवीर श्रावक थे। सेनमुनिके वह योग्य उत्तराधिकारी थे। मार्गुद्धि नामक स्थान पर भी उन्होंने जिन मन्दिर बनाकर दान दिया था। १२११ में कुप्पटूरमें श्री कलित-कीर्तिमुनिके शिष्य शुभचन्द्रने समाधिमरण किया था।

गोप महाप्रभु।

कुप्पटूरके मान्तीय शासक (Governor) गोप महाप्रभु भी जैनधर्मके अनन्य भक्त थे। जैनधर्मको धारण करके वह ऐसे पवित्र हुये कि उनका चारित्र धर्म स्वर्गके लिए सीढ़ियां ही माना गया। गोप चामूर गौड़ थे और उनके गुरु मूलसंघ देशीगणके सिद्धांताचार्य थे। उन्होंने जैन सिद्धांतमें उनको चातुर बनाया था। कुप टूरमें एक जिनालय बनवाकर उसके लिये खूब दान दिया था। इनके पुत्र सिरियण्ण श्रीपति गोपनपुरके शासक थे और पौत्र महाप्रभव गोपण्ण थे गोपण्णके दुर्गके शासक नियुक्त किये गए थे। इन महाप्रभु गोपण्णकी दो धर्मपत्नियां (१) गोपाई और (२) चमाई नामक थीं और दोनों ही अपने पतिके समान जिनभक्तवत्सा थीं। एक दिन चामूर

1–मेजै पृ १९८–१९९, २–मेजै पृ० ३०९.

गोप महाप्रभूने लोकको अपने जैनत्वका परिचय देना ठीक समझा । अपना आत्महित साधनेके साथ २ लोकहित साधना आदर्श जैनका कर्तव्य है । उन्होंने खूब आनन्दोत्सव मनाया—पत्नियोंके साथ खूब भोगविलास किया और उनको संतुष्ट करके उन्होंने इन्द्रियजन्य सुखाभाससे मुंह मोड़ लिया । वैराग्य उनके मन भाया । ब्राह्मणोंको उन्होंने गऊ, नाज, स्वर्ण आदिका दान दिया । जिनेन्द्र भगवानका स्मरण किया और धर्म साधनोंमें लीन होगये । मोक्षलक्ष्मीके वरदहस्तका अवलम्बन लिये हुये वह स्वर्गवासी हुये । गव्योंने उनके धर्मको सराहा । उनकी धर्मपत्नियां भी पीछे नहीं रहीं । उन्होंने भी ब्राह्मणोंको दान दिया और मनशुद्धिपूर्वक सिद्धांताचार्यके पादपद्मोंको नमस्कार करके धर्म-साधनमें जुट गईं । निरंतर वीतराग भगवान्का ध्यान करके वे भी स्वर्गको सिधारीं ।[1]

करियप्प दहनायक ।

मोरसुनाडुमें उस प्रांतके शासक श्री करियप्प दहनायकने सन् १४२६ में चोकमय जिनालय निर्माण कराया था और उसके लिये भूमिदान दिया था । उनके गुरु पुस्तकगच्छके श्री आचार्य शुभ-चन्द्रजी सिद्धांतदेव थे । वहांके अन्य शासकोंके विषयमें अधिक वृत्त अज्ञात है ।

रामनायक ।

बिदिरूरके शासक रामनायकने सन् १४८७ ई० में २७ मई

१—मेजै० पृ० ३०९ व सोशल एण्ड पोलीटिकल लाइफ इन दी विजयनगर एम्पायर, भा० २, पृष्ठ २४५

(जेठ सुदी ५ सं० १२१० शक) को यहां "वर्द्धमानस्वामी बस्ती" नामक एक सुंदर जिन मंदिर निर्माण कराकर इसमें आदिनाथ भगवानकी प्रतिमा विराजमान की थी। रामनायक सन्तार सरदार थे और उनका उपनाम आदियस (Adiyas) कोगोंसे था। वह एक महान् वीर थे। इससे पहले यहांपर एक अन्य जिनमंदिरका निर्माण श्री भैरवाराय देशीगण मायवप्रसुरिके आचार्य शुभचंद्रदेवने कराया था। कहिलके गोत्रके महिले उसमें जिन प्रतिमा विराजमान कराई थी। उनको जिनेन्द्र भक्ति प्रसिद्ध थी।[1]

विजयनगरके अनेक सेनापति और राजमन्त्री जैन थे।

इस प्रकार विजयनगर सम्राटोंके माण्डलिक शासकगण और सामन्त जब जैन धर्मके पोषक और अनुयायी थे तब उन्हींके अनुरूप विजयनगर सम्राटोंके सेनापति और मंत्री भी जैन धर्मानुयायी थे। उनमें सेनापति इरुगप्पका वंश प्रसिद्ध था। इस वंशमें कई पीढ़ियोंसे मंत्रीगण होते आये थे। सम्राट् बुक्कराजके महाप्रधान बैच दण्डेश थे, जो अपनी राजनीतिज्ञता संयम और विद्या के लिए प्रसिद्ध थे। अपनी राजनीतिके लिये वह प्रख्यात थे। उनकी राजनीति सर्वमान्य हो रही थी। कविगण उनके गुणोंका बखान करनेमें अलमस्त थे। जैसे वह नीतिनिपुण थे,

1-ASM 1948 pp 113-115

२-" श्री बुक्कराजस्य बभूव मन्त्री श्री बैचदण्डेशवराभिधानः।
नीतिस्थितीनां निधिरामिलितमा निर्जापिमानां विनयोचितम्॥ २ ॥-
वक्ष बैचपनापि सुन्ग, भवी मात्रेव अलगम्ने। २
बैचसे यदि ना कुलीनता कुशाडू, तेकोसे ॥ ३-
नीति बैचेश्वराधिकि बारदा स्पन्दन कर्ता अन।

वसे ही वीर पराक्रमी भी थे। एक वीरगल्में सम्भवतः उन्हींके लिये कहा गया है कि उन्होंने कोङ्कणके युद्धमें अपने शौर्यका परिचय दिया था—सैकड़ों कोङ्कणियोंको उन्होंने तलवारके घाट उतारा था। जिनेन्द्र भगवान्के वह अनन्य भक्त थे। हो सकता है कि उपर्युल्लिखित युद्धमें उन्होंने वीरगति पाई हो, क्योंकि वीरगल्में उनको स्वर्गसुख प्राप्त किया लिखा है।[1] यद्यपि उनकी सन्ततिका परिचय मिलता है, किन्तु उनके वंशके विषयमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। उनके तीन पुत्र (१) मङ्गप्प, (२) इरुगप्प और (३) बुक्कण्ण नामक हुये थे। वे तीनों शील धर्मसे भूषित और रत्नत्रय धर्मके आराधक थे।

राजमंत्री इरुगप्प।

इनमेंसे ज्येष्ठ पुत्र मङ्गप्प अपने पिताके पश्चात् राजमंत्रिपद पर आरूढ़ हुये थे। वह महान् गुणवान थे और बहादुर भी थे। जैनागमके ज्ञाता और अणुव्रतोंके आराधक थे। उनकी धर्मपत्नी जानकी सीताके समान थी, जिनसे उनके दो पुत्र (१) बैचप्प, (२) और इरुगप्प नामक हुये थे।[2] सम्राट् हरिहर द्वितीयके राजमंत्रियोंमें

स्तोत्र बैचपदण्ड नतुम्वतो शत्य कथानां कथ ॥ ३ ॥
तस्मादजायन्त जगदजयन्त, पुत्रास्त्रयो भूषित पादशीला।
येम् प्रथ ऽत्रानत मध्यलोका र्धे'ज मङ्गन इभापश्रगो ॥ ४ इत्यादि"

१-इका० ८ (5b, १५२ —जैसइ०, ह० १६८.

२-' प्रतिभटकामिनी पृथुपयोधर हार हरो।
महितगुणोऽभवद् जगति मङ्गपदण्डपतिः ॥ ५ ॥
...मङ्गरदण्डपोऽप्रमतनोऽजैनागमाणुव्रत ॥ ६ ॥
इत्यादि—मजैशि० १६१.

१—आहार, २—अभय, ३—भैषज्य और ४—ज्ञानका दान वह दिया करते थे। उनसे हिंसा, असत्य, चौर्य, परदारा संभोग और लोभ दुर्गुण दूर रहते थे। वह परम धर्मनिष्ठ जैन जो थे। वह सदा ही धर्म प्रभावनामें निरत रहते थे। जिनेन्द्रदेवकी कीर्तिगाथा सुननेमें उनके कान सदा ही लगे रहते थे। जिह्वा निरन्तर जिनेन्द्रके गुणगानसे पवित्र होती रहती थी। शरीर सदा उनके ही समक्ष नत विनत रहता था और उनकी नाक केवल जिनेन्द्रचरणकमलोंकी परमसुगंधी सूंघनेमें मग्न रहती थी। जिनेन्द्रकी सेवाके लिए उनका सर्वस्व समर्पित था।[१] निस्सन्देह दण्डाधिप इरुगप राजभक्त धर्मात्मा और पक्के जैन थे। सन् १३८२ ई० में उन्होंने चिंगलपेट जिलेके तिरुप्परुत्तिकुणरु नामक ग्रामके प्राचीन "त्रैलोक्यनाथ बस्ती" नामक जिनालयके लिये भूमिदान दिया था। उससमय हरिहरराय द्वितीय शासनाधिकारी थे। यह भूमिदान इरुगपने राजकुमार बुक्कके पुण्य वर्द्धन हेतुसे दिया था। इससे ज्ञात होता है कि इरुगपने पहले चिंगलपेटमें बुक्कके आधीन रहकर राजसेवाकी थी। उस मंदिरका मंडप भी सेनापति इरुगपने अपने गुरु पुष्पसेनकी आज्ञासे निर्माण कराया था। उपरान्त वह विजयनगर राजधानीमें जाकर सम्राट् हरिहरराय द्वि० की आज्ञाका पालन करने लगे थे।[२] उनको राजमंत्रीका महतीपद वहां प्राप्त हुआ था। विजयनगरमें उन्होंने नयनाभिराम कुन्थुजिनालय निर्माण कराया था जो १६ फरवरी सन् १३८६ ई० को बनकर तैयार हुआ था। इस मंदिरको उन्होंने श्री सिंहनन्द्याचार्यके उपदेशसे बनवाया था। आज कल इस

१—मेडिजै०, पृ० १६२। २—मेजै०, पृ० २०५।

ग्यस्त मंदिरको 'गाणिगित्ति बसदि' कहते हैं। अनुमान किया जाता है कि किसी धर्मात्मा तेलिनने इस मंदिरका जीर्णोद्धार कराया था—इसलिये इस मंदिरकी प्रसिद्धि "गाणिगित्ति" (तेलिन) का मंदिर नामसे हुई थी। इस मंदिरके सम्मुख एक दीपस्तंभ पर शिलालेख अंकित है जो संस्कृत भाषाके २८ श्लोकोंमें निबद्ध है। इसमें भी सिंहनन्द्याचार्यकी गुरुशिष्य परंपरा निम्नप्रकार लिखी हुई है:—

मूलसंघ–नंदिसंघ–बलात्कारगण–सारस्वतगच्छ
|
आचार्य पद्मनन्दी
|
भट्टारक धर्मभूषण प्रथम
|
अमरकीर्ति
|
सिंहनन्दी गणभृत्
|
भट्टारक धर्मभूषण
|
वर्धमान
|
भट्टारक मुनि धर्मभूषण द्वितीय

आचार्य पद्मनन्दीसे शिलालेखमें कुन्दकुन्दाचार्य अभिप्रेत हैं। इसमें इनके पांच नाम (१) कुन्दकुन्द (२) वक्रग्रीव (३) महामति, (४) एलाचार्य और (५) गृध्रपिच्छ प्रगट किये गये हैं। इसके पहले श्लोकसे विदित होता है कि उस समय श्रमण परम्परामें

१– आचार्यः कुण्डकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः। एलाचार्यो गृध्रपिच्छ इति तन्नाम पंचधा॥४॥
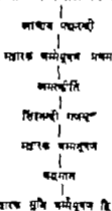
साधुवेषियोंका बाहुल्य हो गया था। ये केवल अज्ञानी पेट भरनेवाले साधुवर्गी कहे गये हैं। म० सिंहनन्दीको इस शिलालेखमें जिन धर्मरूपी पवित्र प्रासादका स्तम्भ कहा है। ३३ वें श्लोकमें प्रगट है कि दण्डेश इरुगप्पका चतुर लोगोंको सम्यक्चारित्रकी शिक्षा देता था। हरिहरनरेशकी राजलक्ष्मीकी अभिवृद्धि उन्होंने की थी। सिंहनन्दीगुरुके चरणोंके वह भक्त थे। उनके सुचारु शासन सूत्रसे विजयनगर समृद्धि-शाली हुआ था। वहांकी सड़कोंमें बहुमूल्य रत्न जड़े हुये थे। ऐसे विशाल नगरमें इरुगने कुंथुजिनालय बनवाया था। इरुगप्प केवल योद्धा और राजनीतिज्ञ ही नहीं थे वह एक महान् साहित्यज्ञ और विश्वकर्मा भी थे। सन् १३०४ में उन्होंने कूणिगल नामक एक सुन्दर सरोवर निर्माण किया था। इस सरोवरके निर्माण सम्बन्धी शिलालेखसे स्पष्ट है कि इरुगप्प संस्कृत भाषाके श्रेष्ठ विद्वान् थे। उन्होंने संस्कृत भाषामें "नानार्थरत्नाकर" नामक ग्रन्थकी रचना की थी। इरुगप्प न केवल हरिहर द्वितीयके राजमंत्री थे, बल्कि सम्राट् देवराय द्वितीयके शासनकालमें भी वह उस महती पद पर नियत रहे थे। सन् १४२२ में उन्होंने जब श्रवणबेलगोल तीर्थकी यात्रा की तो गुरु श्रुतमुनिकी वंदना करके उन्होंने गोम्मटेश्वरकी पूजाके लिए बेलगोल नामक ग्राम भेंट किया था। सन् १४४२ में यह जैन सेनापति गोवे (Goa) और चन्द्रगुत्तिके वायसराय थे। इस प्रकार सेनापति इरुगप्प एक विश्वसनीय सैन्यनायक, चतुर शिल्पवेत्ता और सफल शासक एवं प्रासाद गुण—सम्पन्न साहित्य रचयिता प्रमाणित होते हैं। उनका राज्य-काल सर्वोपरि अर्थात लगभग साठ वर्ष (१३८२–१४४२ ई०) था।

स्मरता है। दक्षिण भारतके इतिहासमें इतने दीर्घकालतक शासन एवं सैन्यसंचालक कोई दूसरा सेनापति नहीं दिखता। महान् व इरुगप्प।[1] किन्तु यह विदित नहीं कि इन्होंने किस स्थानपर किस समय अपना गौरवशाली इह जीवन समाप्त किया था।[2]

बुक्केश बैचप्प।

इरुगप्पके भाई बुक्केश बैचप्प भी एक धर्मात्मा जैनी थे। सन् १४२२ में श्रवणबेलगोलके एक शिलालेखमें उनका उल्लेख 'धर्मात्मा' रूपमें हुआ है। इरुगप्पकी भांति वह भी धर्ममार्गको प्रवर्तित करनेवाले कहे गये हैं। (प्रवर्तित-धर्ममार्गान्) बुक्केश विवेकी भी कहलाते थे। सन् १४२० में बैचप्प नामक सम्राट् देवराय द्वितीयके महाप्रधान थे। इस समय इन्होंने धर्मानुसार बेलगोलके गोम्मटेशकी पूजाके लिये बेक्कने ग्रामकी वृत्ति प्रदान की थी।[3]

कुचिराज प्रधान आदि राजकर्मचारी।

इरुगप्पके समकालीन राजकर्मचारियोंमें कुचिराज प्रधान महा प्रधान गोपचमूप, गुण्डदण्डनाथ प्रभृति प्रमुख व्यक्ति थे। श्री कुचिराज आचार्य चन्द्रकीर्तिदेवके शिष्य थे, जिनके गुरु मूलसंघ इंगुळेश्वर बलिके आ... श्रुतमुनिदेव थे। इन्होंने सन् १४०० के लगभग कोप्पणमें चन्द्रप्रभ भगवान् प्रतिष्ठित कराये थे। महा प्रधान गोप चमूप निडुगल दुर्गके अध्यक्ष थे। वह जैनसंघके जैनेन्द्र व्याकरणादि गुण-पूर्ण चन्द्र कहलाते थे। उनका धर्म जैनमतके लिये

२-मेजै० पृ० ११-१० ३-मेजै० पृ० २११।
१-मेजै० पृ० १० ४-मेजै० ११८।

मख्यात था । उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है । गुण्ड दण्डनाथ यद्यपि जैन नहीं थे, किन्तु उनकी उदार वृत्ति थी । अपने एक शिलालेखके मङ्गलाचरणमें उन्होंने जिनेन्द्रका भी उल्लेख किया है ।[1]

कम्पणगौड और जैनधर्म ।

यलिनाडके शासक मसनहल्लि कम्पणगौड भी उल्लेखनीय जैन राज्याधिकारी थे । उनके गुरु श्री पण्डितदेव थे । सन् १४२४ में उन्होंने होटहल्लि नामक ग्राम श्रवणबेलगोलके गोम्मटदेवकी पूजाके लिए भेंट किया था ।[2] उन्हींकी तरह वल्लभराजदेव महाअरसु भी एक आदर्श जैन थे । वह महामण्डलेश्वर श्रीपतिराजके पौत्र और राजय्यदेव महाअरसुके पुत्र थे । उन्होंने चिन्नवर गोविन्द सेट्टिके आवेदन पर हेमारमदि नामक जैन मंदिरके लिए भूमिदान दिया था ।[3] हरिहर द्वि० के राजमंत्रियोंमें भी एक वल्लभराय महाराज थे, जो वीर देवरस और मल्लिदेवीके पुत्र थे । वह चालुक्य चक्रवर्ती कहलाते थे ।[4] संभव है उन्हींके वंशज वल्लभराजदेव हों । हरिहररायके एक अन्य राजमंत्री मुद्दय्य दंडाधिप थे ।[5] उन्होंने संभवतः मधुर जैन पंडितको आश्रय दिया था । इस प्रकार हम देखते हैं कि विजयनगरके राजकर्मचारियोंमें भी जैन धर्मकी मान्यता थी ।

जनताका धर्म और केन्द्र स्थान ।

इस प्रकार राज्याश्रयको पुनः प्राप्त करके जैन धर्म जनतामें भी चमक उठा था । जब कभी साम्प्रदायिक कट्टरतासे वैष्णवादि लोग

1–Ibid, 292 2–Ibid, 309 ३–मेजै०, पृ० ३१० ४–जमीसो०, १९।४ 5–Ibid 5

जैनोंको त्रास देते थे तो राज्यसे उनका संरक्षण किया जाता था यह पहले ही पाठक पढ़ चुके हैं। इस प्रकार जनता भी जैनधर्मके अहिंसक वातावरणमें सुख अनुभव कर रही थी। उस समय जैनकेन्द्रोंमें कुंपेरि सदृश भी स्थान थे जो पहलेसे जैनेतर मतोंके गढ़ बने हुये थे। प्रमुख जैन केन्द्रस्थान ये थे। श्रवणबेलगोल कोपण कुन्दकुन्द उदरि, कुंपेरि, मलखेड, कोल्हापुर आदि।

श्रवणबेलगोल।

श्रवणबेलगोल प्राचीनकालसे ही एक महान् तीर्थरूपमें मान्य था। जब जैनों और वैष्णवोंमें परस्पर असहिष्णुभाव बढ़ गया तो सम्राट् बुक्कारायने दोनोंमें संधि कराही थी यह लिखा जा चुका है। इस समय श्रवणबेलगोलके गोम्मटेश्वरकी रक्षाका भार भी वैष्णव जैन संरक्षण पर पड़ा था जो तिरुमलेके निवासी थे। श्री गोम्मटेश्वरकी विशाल मूर्ति उनके संरक्षणमें रहकर आज भी लोकमें भारतीय कला और जैन आदर्शको व्यक्त कर रही है। साम्प्रदायिक-सहिष्णुभावका यह कैसा सुन्दर दृष्टांत है। उस समय सभी जैनी अत्यंत भक्तिभावसे उसकी पूजा करते थे। बीस सिपाही गोम्मटेश्वर-मूर्तिकी रक्षाके लिए हर समय नियत रहते थे। सम्राट् बुक्कारायने यहांके सभी मंदिरोंका जीर्णोद्धार कराकर उन्हें नयनाभिराम बना दिया था। देवराय प्रथमकी रानी भीमादेवीने ही मंगायी बस्तीमें शांतिनाथस्वामीकी मूर्तिको प्रतिष्ठापित किया था। इस मंदिरको राजनर्तकियोंमें शिरोमणि मंगायी नामक नर्तकी (Dancing girl) ने बनवाया था। उसके गुरु

अभिनव चारुकीर्ति पंडित थे।[1] नञ्जरायपट्टनके श्रावक संघने यहांकी यात्रा करके बल्लिवाडका जीर्णोद्धार कराया था।[2] सचमुच श्रवणबेलगोल उससमय विजयनगर साम्राज्यमें प्रमुख जैन तीर्थ माना जाता था और दूर दूरसे यात्रीगण वन्दना करने आते थे। सन् १३९८में उस प्रदेशके शासक हरियण और माणिकदेव थे, जिनके गुरु श्रवणबेलगोलके चारुकीर्ति पंडित थे। सन् १४००में तो श्रवणबेलगोलकी यात्राको बहुत ही अधिक संख्यामें यात्री आए थे। यह बात वहांके शिलालेखोंसे स्पष्ट है।[3] श्रवणबेलगोलके जैनोंकी एक खास बात यह भी थी कि उन्होंने तत्कालीन राजनीतिसे अपनेको अछूता नहीं रक्खा था। राजनीतिसे अछूता रहकर कोई भी समुदाय महत्वशाली और शक्तिपूर्ण नहीं बन सकता। श्रवणबेलगोलके जैनी "जैनं जयतु शासन" सूत्रको प्रकाशमान और प्रभावशाली बनाये रखनेके लिये जैनोंकी पुरातन रीति नीतिको अपनाये रहे। राजशासनसे उनका सम्पर्क रहा। उन्होंने राज्यकी छोटी-सी छोटी बातको भी नहीं भुलाया। सन् १४०४ में जब सम्राट् हरिहरराय द्वितीयका स्वर्गवास हुआ, तो उन्होंने इस घटनाकी स्मृतिमें एक मार्मिक शिलालेख रचा डाला। ऐसे ही सन् १४४६ में देवराय द्वि०की निधन वार्ताको दो शिलालेख सुरक्षित किये हुए हैं।[4] इन शिलालेखोंसे जैनोंके राजप्रेमका परिचय और सम्बन्ध स्पष्ट होता है।

निस्सन्देह श्रवणबेलगोल भारत—विख्यात् तीर्थ होरहा था। दूर दूर देशोंसे धनाढ्य सेठ लोग संघ लेकर श्रवणबेलगोलकी यात्राके

1-Ibid 299 2-Ibid-314 ३-मेमं०. ३२४. 4-Ibid.

किये जाते थे और पूजा करके दान देते थे। सन् १४०७ में गोम्मटके कतिपय यात्री वन्दनाके लिये आये थे। सन् १४०९में तैंगलीके निवासी और आचार्य चन्द्रकीर्तिके शिष्य माधव्वाय सेट्टीने गंगसमुद्र नामक सरोवरकी भूमि खरीदकर गोम्मटस्वामीकी पूजाके लिये भेंट की थी। माधव्व स्वयं श्रावक थे और सम्यक्त्वचूडामणि कहलाते थे। इस दानके समय श्रवणबेलगोलके पुरोहितगण और दो श्रेष्ठि उपस्थित थे। सन् १४१ में भी पंडितदेवके शिष्य वस्तामिने वहाँ वर्द्धमानस्वामीकी मूर्ति स्थापित कराई थी। सन् १४१७ के लगभग पिरिय नामक स्थानसे करिय गुम्मटसेट्टि एक संघ लेकर श्रवणबेलगोल पहुंचे थे और उनने स्ववंश सहित उपासना करके संघका आदर-सत्कार किया था।

विजयनगर साम्राज्यमें उत्तर भारत मुख्यतः मारवाड़से बहुतसे हिन्दू आकर बस गये थे—इन लोगोंका उधर आना जाना बना ही रहता था। इनमें बहुतसे जैनी भी थे। श्रवणबेलगोलके लेखोंमें इन मारवाड़ी जैनोंका विशेष उल्लेख है। सम्राट् देवराय द्वितीयके समयमें इन लोगोंका उल्लेख "उत्तरापथ-मारवाड़-देशवासी" रूपमें हुआ है। सन् १४८९ में मारवाड़ निवासी मूलसंघी श्री जगसुमे साह नामक धर्मात्मा सज्जनने एक जिनप्रतिमाकी स्थापना श्रवणबेलगोलमें की थी।

सन् १४८८ में पुरस्थान नामक स्थानसे मोमट मूलाक प्रभव साह और ब्रह्मचारी कविकर्मसी अपने सम्बंधीजनों सहित श्रवणबेलगोलकी वन्दनाके लिए आये थे। उस शिलालेखमें उत्तर भारतसे यात्रियोंका

वंदनाके लिये आना उस तीर्थके महत्व और यात्रियोंकी तीर्थभक्तिकी द्योतक है। सन् १४९० में भी मारवाड़से भट्टारक अभयचंद्रके शिष्य ब्रह्म धर्मरुचि और ब्रह्म गुणसागर पंडित श्रवणबेलगोलकी यात्रा करने आये थे।

सन् १५०० में श्रवणबेलगोलके मठाधीश श्री पंडितदेवके प्रयाससे गोम्मटेश्वरकी विशालमूर्तिका महामस्तकाभिषेक उत्सव समारोह मनाया गया था उस समय स्वयं गुरुजीने और बेलगुलनाडुके नागगौड तथा मुत्तग होसेनहल्लके गवुडगलने मठ एवं मज्जायी–बस्तिके लिये दान दिये थे। सारांश यह कि श्रवणबेलगोल उस समय सांस्कृतिक सम्पर्कका केन्द्र बना हुआ था। उत्तर और दक्षिण–दोनों ही देशोंके जैनी वहां आते और परस्पर मिलते जुलते थे।[1]

कोपण तीर्थ।

श्रवण बेलगोलके उपरांत दक्षिण भारतमें दूसरा प्रधान तीर्थ कोपण था, यह पाठकोंको पहले ही बताया जा चुका है। विजयनगर साम्राज्य–कालमें भी कोपणका धार्मिक और सांस्कृतिक महत्व उल्लेखनीय रहा था। इस मौर्यकालीन तीर्थकी महत्ता लोगोंके मन चढ़ी हुई थी। विजयनगर सम्राट् कृष्णदेवरायके समयमें कोपण राज्य–सीमा मानी जाती थी। उससमय कोपणके शासक तिम्मप्पय्य नायक थे। वह केशवोपासक थे। उन्होंने सन् १५२१ में कोपणके चेन्नकेशव मंदिरको दान दिया था। यह मंदिर मूलतः जैनमंदिर था; क्योंकि इसकी दीवालों पर अभी भी जैन मूर्तियां बनी हुई हैं।

१ मेजै०, पृष्ठ ३२६

पंचपरमेष्ठीकी एक मूर्ति प्रतिष्ठित कराई थी।[1] वहां ही एक समय माघनदि सिद्धान्तचक्रवर्ती भी रह रहे थे। उनके प्रिय शिष्य बोप्पण और उनकी पत्नी मलौव्वेने वहा एक चौवीसी—पट्ट स्थापित किया था।[2] सम्राट् कृष्णदेवरायके राज्यकालमें सं० १४४३ शाके (१५२१ ई०) में भट्टारी अप्परसय्यके पुत्र भट्टारद तिम्मप्पय्यने हिरियसिन्दोगि नामक ग्रामका दान कोपण तीर्थके लिये किया था।[3] ईस्वी अठारहवीं सदीमें देवेन्द्रकीर्ति भट्टारकके शिष्य वर्द्धमानदेवने वहा छाया—चन्द्रनाथस्वामीकी जिनमूर्ति निर्मापित कराई थी।[4] इस प्रकार १८वीं शताब्दि तक कोपण जैनधर्मका केन्द्र रहा था। उपरांत कालकी विषमता और जैनगुरुओंके अभावमें उसका ह्रास हो गया।

कुप्पटूर।

कुप्पटूरकी प्रसिद्धि भी जैन केन्द्रके रूपमें इस समय तक विशेष हो गई थी। यह पहले ब्राह्मणोंका केन्द्र था, किन्तु कदम्ब रानी माललदेवीके उद्योगसे यह जैनोंका भी प्रमुख स्थान हो गया। जैन मुनिगण यहां आकर रहते और धर्मोपदेश देकर अहिंसा संस्कृतिको आगे बढाते थे। चौदहवीं शताब्दिमें वहां श्रुतमुनि रहते थे। उनके शिष्य देवचन्द्र एक प्रसिद्ध कवि थे, जिनकी प्रशंसा अच्छे २ कवीन्द्र करते थे। श्रुतमुनि भी साहित्य रचना करते थे। सन् १३६५ई में इन्होंने ही संभवत सल्लिषेण सूरिकृत सज्जन चित्तवल्लभकी कर्णाटकी व्याख्या लिखी थी। ये देशीयगणसे सम्बन्धित थे। देवचन्द्रजीने

१—कोपण, पृ० १२ २—कोपण, पृ० १२, ३—कोपण, पृ० १०, ४—कोपण, पृ०८.

भी बने हुये थे। विजयनगर साम्राज्यके प्रमुख नगरोंके निर्माणमें जैनोंका हाथ ही सर्वोपरि था। देशके वे बड़े व्यापारी और उद्योगी लोग थे। अपने धर्मकी प्रभावना एवं लोकहितके कार्योंको करनेमें वे एक दूसरेसे स्पर्द्धा किया करते थे।[1]

स्तवनिधि।

स्तवनिधि सोहराब तालुकमें एक प्रमुख नगर और जैनधर्मका केन्द्र था। वहांके शासकगण जैनधर्मानुयायी होनेके साथ साथ उसके अनन्य प्रचारक थे, यह पहले लिखा जाचुका है। स्तवनिधि समृद्धिशाली नगर था, जिसकी तुलना एक शिलालेखमें इन्द्रकी नगरी अलकावतीसे की गई थी।[2] वहां नयनाभिराम जिनमंदिर बने हुये थे, जिनमें निरंतर जैनाचार्योंका धर्मोपदेश, जिनेन्द्रकी पूजा-अर्चा और दान पुण्य हुआ करता था। श्रावक श्राविकायें निरंतर धर्म-नियमोंका पालन करके सन्यासमरण किया करते थे। उनकी स्मृतिमें निषधि वीरगल् बनाये जाते थे। ऐसा ही एक निषधिकल वहांसे मिला था, जिसमें एक भव्य श्राविकाका चित्रण किया गया है।[3] निस्सन्देह स्तवनिधिकी प्रसिद्धि इतनी अधिक थी कि शैव ब्राह्मणोंने भी अपने एक केन्द्रका नाम 'तवनिधि' रक्खा था, जोकि हस्सन जिलेमें था। श्री नयसेनने अपने 'कन्नड धर्मामृत' (१११२ ई०)में संभवत इसी स्तवनिधिका उल्लेख किया है और लिखा है कि वहांके पार्श्वनाथस्वामी (मूर्ति) प्रसिद्ध थे।[4] यद्यपि यह स्तवनिधि सोहराब

१-मेजै०, पृ० १२३-१२४ २-मेजै० पृ० १२५. ३-मेआरि०, १९४१ नं० ५० 4-JA., XI p 8. 5-Ibid, X. p 81.

अस्तुमें था, परन्तु एक अन्य रत्ननिधि बेलगाम जिलेके निपाणी ग्राम स्थानसे दक्षिण दिशामें दो मील दूर है। वहांपर भी जैन मंदिरोंके खंडहर इसे प्राचीन स्थान सिद्ध करते हैं। सत्रहवीं शताब्दिमें इस रत्ननिधिकी यात्रा तीर्थोंमें होती थी। यह बात श्वेताम्बर साधु शीलविजयके निम्नलिखित श्लोकसे होती है जो उन्होंने अपनी तीर्थमाला" में लिखा है—

"बारणगिरि रत्ननिधि पास, रायबाग कुंभेरी वास।
देव घणा श्रावक धनवंत, पंचमना तिहां बहु सतवंत ॥१०१॥
पंचम वणिक छीपा कंसार, चणकर चोथो श्रावक सार।
मोकल मेहल कोइ मनि करि, वेगमार श्रावक ते सिरि ॥१०२॥
मिथ्यातणी सीमि बहु जैन, मराठ देसि रहि अमचीन।
तुलजादेवी सेवि घणा, परता पूरि सेवक तणा ॥१०३॥"

इस श्लोकसे उस समय पंचम छीपी कंसार; चणकर और चतुर्थ जातिके श्रावकोंका अस्तित्व भी प्रमाणित होता है। उनमें वात्सल्य धर्मका इतना अभाव था कि वे साथ २ बैठकर भोजन भी नहीं कर सकते थे। यह वर्णाश्रमी हिन्दूधर्मका प्रभाव था कि जिसने श्रावकोंके मूल सम्यक्त्व गुणोंसे भी जैनोंको बहिर्मुख कर दिया था। उस समयके यह जैनी रायबागके निकट अवस्थित रत्ननिधिको तीर्थरूप मानते थे। मालूम ऐसा होता है कि बेलगाम जिलेके प्राचीन रत्ननिधि तीर्थकी प्रसिद्धिको सुनकर और वहां पहुंच न सकनेके कारण उक्त महाराष्ट्र देशमें उसकी पुनः स्थापना की गई थी। वहांकी वर्तमान मूर्ति

1–JA., X. 4

अतिशयपूर्ण होनेके कारण 'चिन्तामणि पार्श्वनाथ' नामक प्रसिद्ध हुई थी। वहांकी एक अन्य पार्श्वमूर्ति जो किसी लक्ष्मीसेन भट्टारकको बेलगाम जिलेके हुकेरि ग्रामके पास मिली थी, उसको उन्होंने सन् १८८० ई० में लाकर एक बड़े प्रतिष्ठा महोत्सवके साथ स्तवनिधिमें विराजमान किया था। इस मूर्तिको श्री वीरनन्दि सिद्धांतचक्रवर्तीके शिष्य सरदार सेनरसकी दादी लच्छेयादेवीने निर्माण कराया था। यह स्तवनिधि एक पहाड़ी पर स्थित है। पहाड़ी पर ही पत्थरके परकोटेमें पांच जिनमंदिर बने हुए हैं। परकोटेके भीतर एक अच्छासा मानस्तंभ बना हुआ है। यह मुख्य मंदिरके सामने स्थित है। इस पहाड़ीके पास ही ब्रह्मनाथ और पद्मावतीदेवीके भी मंदिर हैं। इस तीर्थकी कुछ ऐसी मान्यता है कि प्रत्येक मासकी अमावस्याको उत्तरीय कर्णाटक और दक्षिण महाराष्ट्र प्रदेशके जैनी वन्दना करने आते हैं। वर्षान्तमें वहां एक बड़ा मेला भी लगता है। अब तो वहां एक जैन गुरुकुल भी स्थापित होगया है।[1] सारांशतः स्तवनिधि एक प्रधानकेन्द्र दो क्षेत्रोंमें रहा था।

उद्धरे।

सोहराव तालुकमें दूसरा प्रधान नगर उद्धरे भी जैनकेन्द्र था। होयसल राजाओंके समयसे ही वहां जैन धर्मकी प्रधानता थी। आजकलका उद्रि ही प्राचीन उद्धरे अथवा उद्धवपुर है। सम्राट् हरिहराय द्वितीयके राज्यकालमें उद्धरेके जैन नेता बैचप्प थे। वह बहु प्रसिद्ध धर्मात्मा और देशभक्त थे। सन् १३८० ई० के एक शिलालेखसे

1–Ibid

स्पष्ट है कि सन् माधवराय समयसे १२० ० के प्रान्तीय शासक थ उस पद कस्तूर भट लड़ा हुआ। कोंकण प्रदेशके कतिपय नीच पुरुषोंने विद्रोह कर दिया। राजसेनाका नेतृत्व बैचप्प कर रहे थे। वह बड़ी बहादुरीके साथ कोंकणियोंसे लड़े और इसी युद्धमें वीरगतिको प्राप्त हुये। उन्होंने विद्रोहियोंको परास्त करके जिनपूजक भव्योंमें कीर्ति प्राप्त की। महान् थे वह।

सेनापति सिरियण्ण।

बैचप्पके पुत्र सिरियण्ण भी जैनधर्मके अनन्य भक्त थे। इनके पिताने जहां देश और राजकी सेवामें प्राणोत्सर्ग किये थे वहां सिरियण्णने धर्मप्रभावनाके लिये अपनी ऐहिक जीवनलीला समाप्त की थी। इनकी प्रकृति बचपनसे ही निवृत्ति प्रधान थी। उनका विवाह हुआ। अपनी पत्नी चन्दाम्बिकेके साथ उन्होंने भोग भोगे। किन्तु वह दृढ़ सम्यक्त्वी थे। भोग उनको भुजग से डसते थे। एक दिन उन्होंने अपने गुरु मुनिचन्द्रसे निवेदन किया कि वह उनको परम सुखधाम—मोक्ष मार्गकी आज्ञा दें। गुरुने उनको अन्त अवसर साधु दीक्षा दी। साधु सिरियण्ण धर्मसाधनामें लीन होगये। सन् १४ ० में उन्होंने समाधिमरण किया। उससमय आकाशसे पुष्पवर्षा होरही थी और भेरि दुंदुभि एवं महामुरज बाजे बज रहे थे। वह जिनेन्द्रचरणोंमें लीन होगए।[1]

'अड्गुळे-वंश' गुरु परम्परा।

यहां जैन गुरु परम्परा अक्षुण्णरूपसे प्रवाहित रही थी। इसलिये

१-मेजै० पृ० ११५-११६

इन गुरुओंको शाखा 'ठद्रे-संघ' के नामसे प्रसिद्ध होगई थी। इन गुरुओंमें मुनि भद्रदेव प्रख्यात थे। उन्होंने हिरुगर बस्तिका निर्माण किया और गुरुगुंदके निर्मंत्रिका विस्तार बनाया था। उनका सम्बन्ध सेनगणमें था—सेनगणके आचार्य इन यतिराजका आदर करते थे। उन्होंने सपश्चरण करके समाधिमरण किया था। आजन्मतक भी वह आगमका व्याख्यान करते रहे थे। उनके समाधि स्थान पर उनके शिष्य मारिषेणदेवने एक निषधि बनाई थी।[1]

हुलिगेरे।

सोराब तालुकमें एक अन्य जैनकेन्द्र हुलिगेर नामक था। सन् १३८३ ई० के एक शिलालेखसे ज्ञात होता है कि हुलिगेरके 'मालुमूरे'—अर्थात् वणिक संघ अपनी उदारताके लिए प्रसिद्ध थे। हुलिगेरेमें इडेनाड, कोण्डाडे, हानुगल, चिक्कजिगलिगे, हिरिय-जिगलिगे, बाळचोगरनाड, होसनाड, कम्बुनाल्गि, ऐडादलिगे हिरिय-मदलिगे, चिक्कमदालिगे, जम्बनहल्लिनाड, हेदनाड, कूडिनाड, होरनाड, मलेनाड, गुत्तिअष्टादशकम्पण, चोसलिगेरेनाड, होन्नलिनाड, हरलिगे इत्यादि स्थानोंके वणिक एकत्रित हुये थे। उन सबने मिलकर हुलिगे-रेकी संकलिबसदिको दान दिया और शासनपत्र लिखा था। उससमय प्रधान-दण्डाधिप मुद भी उपस्थित थे। मुद दण्डनायक 'पृथ्वीसेट्टि' कहलाते थे। यह जैन श्रेष्ठियोंमें उस समय एक रत्न थे। इन वणिक संघोंके अधिकांश सदस्य यद्यपि इससमय वीर शैव धर्ममें दीक्षित हो गये थे, परन्तु वे अपने पूर्वजोंके धर्म जैनमतको भूल नहीं गये थे।[2]

१—वही, पृ० २३७ २—वही, पृ० २३७–२३८

रायदुर्ग और दानवुलपाडु।

बेल्लारी और कुडप्पा जिलोंमें रायदुर्ग और दानवुलपाडु जैन केन्द्र थे। रायदुर्गमें मूल संघके आचार्योंका गढ़ था। इस संघके सारस्वत गच्छ, बलात्कारगण कुन्दकुन्दान्वयके आचार्य अभयकीर्तिके शिष्य मुनि माघनन्दि थे। उनके उपदेशसे सम्राट् हरिहर प्रथमके शासन कालमें जैन श्रेष्ठि भोगराजने शान्तिनाथ जिनेन्द्रकी प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई थी। रायदुर्गसे उपलब्ध प्रसिद्ध मूर्तियोंके आसन लेखसे मूलसंघके चन्द्रभूति और काष्ठीय संघके चन्द्रनन्द्र आचार्य और तिप्पण्ण नामक आचार्योंका पता चलता है। इससे भी रायदुर्ग केन्द्र होना स्पष्ट है। दानवुलपाडु जैन व्यापारी प्रसिद्ध थे। यहां उनकी निषधि मिली है।

शृंगेरि व नरसिंहराजपुर।

शृंगेरि होय्सल कालसे ही जैन केन्द्र था। यह नरसिंहराजपुर से समीप था। नरसिंहराजपुरकी प्रसिद्धि तो चौदहवीं शताब्दीके प्रारंभसे ही हुई है। यहां 'शान्तिनाथ बस्ती' नामक एक जिनमंदिर है, जिसके मूलनायक शान्तिनाथकी मूर्ति सन् १२० की प्रतिष्ठित मानी जाती है। इस मूर्तिकी स्थापना स्वदेवकी भगिनियोगन्ति नामक आर्यिकाकी शिष्या चन्द्रिकाने कराई थी। सोलहवीं शताब्दी तक नरसिंहराजपुर एक समृद्धिशाली जैन केन्द्र था। यहींकी 'चन्द्रनाथ बस्ती' नामक जिनमंदिरमें विराजमान चतुर्विंशतितीर्थंकर और अनन्त तीर्थंकरकी मूर्तियोंके आसन-लेखोंसे स्पष्ट है कि गोपालदेवी सेट्टिके

१–मेजै० पृ० ११८–११९

इन गुरुओंकी परम्परा 'ठद्दरे-वंश' के नामसे प्रसिद्ध होगई थी। इस गुरुकुलमें मुनि भद्रदेव प्रख्यात थे। उन्होंने हिमुगल बस्तिका निर्माण किया और मुलुगुंडके जिनमंदिरका विस्तार बढ़ाया था। उनका सम्बंध सेनगणसे था—सेनगणके आचार्य इन यतिराजका आदर करते थे। उन्होंने तपश्चरण करके समाधिमरण किया था। अन्तसमय भी वह आगमका व्याख्यान करते रहे थे। उनके समाधि स्थल पर उनके शिष्य वारिषेणदेवने एक निषधि बनाई थी।[1]

हुलिगेरे।

सोहराब तालुकमें एक अन्य जैनकेन्द्र हुलिगेरे नामक था। सन् १३८३ ई० के एक शिलालेखसे ज्ञात होता है कि हुलिगेरेके 'सालुमूले'—अर्थात् वणिक संघ अपनी उदारताके लिए प्रसिद्ध थे। हुलिगेरेमें इडेनाड, कोण्डारे, हानुगल, चिक्कनिगलिगे, हिरियानिगलिगे, बाळ्ळचौगलनाड, होसनाड, कम्बुनालिगे, ऐदादलिगे हिरियमहलिगे, चिक्कमहालिगे, जायेकदलिनाड, हेदनाड, कूक्तिनाड, होरनाड, बलेनाड, गुत्तिअष्टादशकम्पण, वोसलिगेरेनाट, होम्बत्तिनाड, हळसिगे इत्यादि स्थानोंके वणिक एकत्रित हुये थे। उन सबने मिलकर हुलिगेरेकी सकलिबसदिको दान दिया और शासनपत्र लिखा था। उससमय प्रधान-दण्डाधिप मुद भी उपस्थित थे। मुद दण्डनायक 'पृथ्वीसेट्टि' कहलाते थे। वह जैन श्रेष्टियोंमें उस समय एक रत्न थे। इन वणिक संघोंके अधिकांश सदस्य यद्यपि इससमय वीर शैव धर्ममें दीक्षित हो गये थे, परन्तु वे अपने पूर्वजोंके धर्म जैनमतको भूल नहीं गये थे।[2]

१-वही, पृ० २३७ २-वही, पृ० २३७-२३८.

स्थिति बतलाता था । इन शिलालेखोंसे तामिल देशमें जैनधर्मके अस्ति-त्वका पता चलता है । तामिलनाडमें कुरुगोडुका जैन मन्दिर प्रसिद्ध था । उसको रायराज ओडयाके पौत्र और तिरुमलय्यके कनिष्ठ भ्राता रामराजय्यन नामक पिता मल्लिराज ओडेयरके पुण्य हेतु भूमिदान दिया था । यह दान सम्राट् सदाशिवरायके शासनकालमें दिया गया था । चित्तामूरके आदिनाथ नामक बड़ी जिनमंदिरमें आदीश्वर, शांतीश्वर और चन्द्रनाथ तीर्थंकरोंकी मूर्तियां ब्राह्मणोंके नेता चिन्नय्यके पुत्र और चारुकीर्ति पण्डितदेवके शिष्य वैकुण्ठरने १५८५ ई० में प्रतिष्ठित कराकर विराजमान कराई थीं । चित्तामूरमें इस समय भी जैनोंका केन्द्र बना हुआ था ।

बारकूर, मूडबिद्री आदि केन्द्र ।

तुलुवदेशमें भी जैनोंके केन्द्रस्थान बारकुर, मूडबिद्री कारकल, हरिहरपुर और आबू नामक नगर थे । बारकुर तो तुलुवदेशकी राजधानी भी रही थी । वहांका आदीश्वरदेव बसदि नामक जिन-मंदिर प्रसिद्ध था । उस मंदिरको शांतार नरेश भैरवने सन् १४ ८ में दान दिया था । सन् १४९९-१५० के मध्य भी मंदिरको श्री चारुकीर्ति पंडितदेवने भी दान दिया था । मंगलोर ताल्लुकमें मूडबिद्री और कारकलके जैन मंदिर उल्लेखनीय थे । कारकलकी नेमिनाथ बसदिको सन् १५४१ में किसी राजकुमारने दान दिया था । हरिहरपुरमें गोम्मटेश्वर बसदि प्रख्यात थी । जैन तीर्थ-स्थानकी प्रसिद्धि गोम्मटेश्वर स्वामी होनेसे उस समय इस लोकमें

१-जैन० १ १५८-१६१ ।

पुत्र दोड्डण सेट्टिने चतुर्विंशति तीर्थंकर मूर्तिकी प्रतिष्ठा कराई थी और नेमिसेट्टिके पुत्र गुम्मण सेट्टिने अनन्त तीर्थंकरकी मूर्ति प्रतिष्ठित कराकर सिंगनाहके जिन मंदिरमें विराजमान की थी।[1] चन्द्रनाथबस्तीके मूलनायक चन्द्रप्रभकी मूर्ति श्वेतपाषाणकी इतनी सुंदर है कि मानों आठ वर्षका बालक ही बैठा हो—यह ढाई फीट अवगाहनाकी है। यह भद्रा नदीमेंसे निकाल कर वहां विराजमान की गई थी।

'पार्श्वबस्ती' मंदिर।

शृङ्गेरिकी पार्श्वनाथबस्ती नामक जिनमंदिर १२वीं शताब्दिका है, जो नगरके मध्यभागमें है और जैनोंके प्रभुत्वको व्यक्त कर रहा है। १६ वीं शताब्दिके मध्य तक शृङ्गेरिमें जैन यात्रीगण आते रहे थे। सन् १५२३ में देवनसेट्टिने अनन्तनाथकी प्रतिमा इस मंदिरमें विराजमान की थी। बोम्मरसेट्टिने चन्द्रनाथमूर्तिकी प्रतिष्ठा कराई थी।[2]

मद्दगिरिमें सन् १५३१ में एक जिनमंदिर था, जिसको चोविदातिमय्यकी पत्नी नयम्मने दान दिया था। इनके गुरु मल्लिनाथ देव थे।[3]

जिनेन्द्रमंगलम्।

इनके अतिरिक्त छोटे छोटे जैन केन्द्र भी विजयनगर साम्राज्यमें बिखरे हुये मिलते थे। सन् १५३३–३४ के एक शिलालेखसे विदित है कि सम्राट् अच्युतदेवरायके शासनकालमें मुत्तुक्कुर्रम प्रांतके अन्तर्गत जिनेन्द्रमंगलम् और अन्जुकोट्टै उल्लेखनीय जैनकेन्द्र थे। जिनेन्द्रमंगलम् नाम जैनत्वका बोधक है। वैसे यह नाम कुरुगं-

१–वही, पृ० ३५६ २–वही, पृष्ठ ३५७ ३–वही, पृष्ठ

बाद सन् १४३४ में कारकलकी शांतिनाथ बस्तीको दान दिया था, जिसे मूलसंघकाणूरगणके भानुकीर्ति मलधारीदेव के शिष्य कुमुदचन्द्र भट्टारकदेवने निर्माण कराया था। शिलालेखमें 'समस्तभुवनाश्रय श्रीपृथ्वीवल्लभ' और महाराजाधिराज विरुद इनको एक स्वाधीन शासक प्रमाणित करते हैं। इनके कुछ समय पश्चात् कारकलके शासकगण यद्यपि लिंगायत मतसे प्रभावित हुए थे फिर भी वे जैनधर्मके सहायक रहे थे। इसीलिये जैन गुरुओंने कारकलके राजाओंको पुनः जैन धर्मका भक्त बनाया था और तब उन्होंने जैनोत्कर्षके कार्य किये यह पहले लिखा जा चुका है। किन्तु कारकलमें जैन अभ्यु-दयमें वहाँके श्रावकोंका हाथ भी कुछ कम न था। सम्यक्त्वका प्रचार करके वे जैन धर्मकी सच्ची प्रभावना करते रहते थे। सन् १५७९में कारकलके कतिपय श्रावकोंने हिरियनगड़िके अम्मनवर बस्ति नामक जिनमंदिरमें निरन्तर शास्त्रस्वाध्यायका प्रबंध रहे, इसलिये नकद दान दिया था। ललितकीर्ति भट्टारक धर्मकर्ता नियुक्त हुये जो विचार-कर्ता कहलाते थे। सन् १५८६ में इम्मडि भैरवेन्द्र ओडेयर, जो पश्चिमोमुखपुरके शासक कहलाते थे उन्होंने "चतुर्मुखबस्ति" नामक जिनमंदिरका निर्माण कराया था। जिन मंदिरोंमें इस समय तक चारों प्रकारकी दानशालायें चलती रहती थीं जिनके कारण वे सांस्कृतिक केन्द्र बने हुये थे। कारकल नामक स्थानमें गोम्मट स्वामीके व पार्श्वनाथकी मूर्ति समान कैलासमें स्थापित की थी। भैरवेन्द्रने उनकी पूजाके लिए भी भूमिदान दिया था।[1]

---

[1] मद्रास-मैसूर, पृ० १५२-१५३

जैन धर्मके महत्वशाली अस्तित्वको प्रमाणित करती है । इस मंदिरको १६ वीं शताब्दिके अन्तिमपादमें विजयनगरके शासक (Viceroy) ने दान दिया था। कापु हडिपि तालुकामें था और वह भी हट्ट अङ्गडिके समान ही प्रमुख जैन केन्द्र था। यह किन्हीं हेगडे सादाकी राजधानी था। सन् १५५६ में पांगाडवंशके महेहेगडे जिनधर्मके अनन्य भक्त और उपासक थे। उन्होंने क्राणूगणके आचार्य देवचन्द्रदेवको मल्लारु नामक ग्राम भेंट किया था। इन देव-चंद्रदेवके गुरु मुनि चद्रदेव और दादागुरु अभिनववादि कीर्तिदेव थे। यह ग्राम कापुके प्रसिद्ध जिनेन्द्र धर्मनाथकी पूजाके लिए दान किया गया था। शिलालेखमें कापूकी तुलना इस दानके कारण ही वेल्गोल, कोपण और ऊर्जन्तगिरि (गिरिनार) से की गई है। इस दानको भग्न करनेवाले जैनके लिये जो शापका भय दिया है, उससे स्पष्ट है कि उस समय वेल्गोलके गोम्मटनाथ, कोपणके चन्द्रनाथ और ऊर्जन्तके नेमीश्वर प्रसिद्ध थे। कापूके जैन इन पवित्र स्थानोंसे परिचित थे।'

कारकल।

कारकल भी इसी समय एक प्रमुख जैन केन्द्र था। जिनदत्तके वंशज सांतार राजाओंने ईस्वी चौदहवीं शताब्दिके आरम्भमें कारकलको अपनी राजधानी बनाया था। यहांके शासक लोकनाथरसन तुलुदेशमें जैनधर्मका खूब प्रचार किया था। महावादवादीश्वर राय वादि पितामह सकलविद्वज्जन चक्रवर्ति.. —

साथ सन् १३१४ में कारकलकी शांतिनाथ बस्तीको दान दिया था, जिसे मूलसंघदेशीगणके भानुकीर्ति मलधारीदेव पट्टशिष्य कुमुदचन्द्र भट्टारकदेवने निर्माण कराया था। कोप्पणनगरके 'समस्तभुवनाश्रय' श्रीपृथ्वीवल्लभ और महाराजाधिराज विरुद् उनको एक स्वाधीन शासक प्रमाणित करते हैं। इसके कुछ समय पश्चात् कारकलके शासकगण यद्यपि लिंगायत मतसे प्रभावित हुए थे फिर भी वे जैनधर्मके उपासक रहे थे। इसलामके जैन गुरुओंने कारकलके राजाओंको पुनः जैन धर्मका भक्त बनाया था और तब उन्होंने जैनोत्कर्षके कार्य किये यह पहले लिखा जा चुका है। किन्तु कारकलमें जैन अभ्युदयमें वहांके श्रावकोंका हाथ भी कुछ कम न था। सम्यक्त्व प्रभाव करके वे जैन धर्मकी सच्ची प्रभावना करते रहते थे। सन् १५७० में कारकलके श्रेष्ठि श्रावकोंने हिरियनगडिके अम्मनवार बसति नामक जिनमंदिरमें निरन्तर आराधनाका प्रबंध रहे, इसलिये अक्षय दान दिया था। ललितकीर्ति भट्टारक धर्मकर्ता नियुक्त हुए जो विचारकर्ता कहलाते थे। सन् १५८६ में इम्मडि भैरवेन्द्र ओडेयर, जो पाण्ड्यचक्रेश्वरके शासक कहलाते थे उन्होंने "चतुर्मुखबसति" नामक जिनमंदिरका निर्माण कराया था। जिन मंदिरोंमें इस समय तक चारों प्रकारकी दानशालायें चलती रहती थीं जिनके कारण वे सांस्कृतिक केन्द्र बने हुये थे। कोटर नामक स्थानमें शांतिनाथके व पार्श्वनाथकी मूर्ति उत्तम चैत्यालयमें स्थापित की थी। भैरवेन्द्रने उनकी पूजाके लिए भी भूमिदान दिया था।[1]

---

१ SSIJ—भा० २ पृष्ठ ११२–११३

वेणूरु।

विजयनगर साम्राज्यमें यद्यपि वर्णाश्रमी पौराणिक धर्मका बहु प्रचार हुआ था, फिर भी जैनधर्म जीवित रहा, क्योंकि जनतामें उसकी गहरी पैठ हो गई थी। हां इस समय जैन धर्म पर पड़ोसी हिन्दू धर्मका प्रभाव पड़ा और उनमें जाति पातिकी उत्पत्ति और भट्टारकका श्रीगणेश हुआ था, यह पहले भी लिखा जाचुका है। ऐसे समयमें भी वेणूरु जैसे नगण्य ग्राममें भी जैन शासकोंका प्राबल्य उल्लेखनीय था। वेणूरुमें सन् १६०४ में तिम्मराजने श्रवणबेलगोलाके श्री चारुकीर्ति पंडितके उपदेशसे गोम्मटेशकी विशालकाय मूर्ति स्थापित की थी। तबसे वेणूरु भी एक प्रमुख केन्द्र और तीर्थ होगया।

वेलूर।

ईस्वी १४ शताब्दिसे १७ वीं शताब्दि तक वेलूर भी जैन धर्मका केन्द्र रहा था, यद्यपि वह हिन्दू धर्मका गढ़ था। वहांपर तीन मन्दिर 'पार्श्वनाथ', 'आदिनाथेश्वर' और शांतिनाथेश्वर बसति' नामक बन गये थे। वेलूरमें मूलसंघके देशीयगण इङ्गलेश्वरबलि और समुदायके गुरुओंकी परम्परा स्थापित होगई थी। यह समयका प्रभाव था कि जैन संघ गण–गच्छसे आगे बढ़कर 'बलि'–'समुदाय' में भी विभक्त होगया था। सन् १६३८ में वेलूरके शासक वेङ्कटाद्रि नायकके समयमें लिङ्गायतों और जैनोंमें उपद्रव हुआ तो वेलूरके जैन वणिकोंने उसे जिस खूबीसे निबटाया इससे उनका प्रभावशाली होना प्रमाणित है। विजयनगर साम्राज्यके अन्तिम कालमें लक्ष्मीसेन भट्टारकने अपनेको दिल्ली, कोल्हापुर, जैन काशी (मूडबिद्री) और पेनुगोण्डका

अभिषिक्त घोषित किया था। इसके ही शिष्य श्रावक सकलोसेट्टिने मायाजेयपुरमें सन् १९८ में श्री विमलनाथ चैत्यालयका निर्माण कराया था। पनुगोण्ड भी जैन केन्द्र था। यहां पार्श्वनाथवस्ती थी जिसके पास ही जिनभूषण भट्टारकके शिष्य नागरसकी निषधि थी।[१]

इस प्रकार जैन धर्म विजयनगर साम्राज्यमें अपना प्रभावशाली अस्तित्व बनाये हुये था। अलबत्ता उसके आचार्य पहले जैसे ज्ञानवान और प्रभावशाली नहीं थे जो शासकोंको जैन धर्मका श्रद्धालु बनाये रखते। फिर भी वे समयके अनुसार बरतते हुये जैन धर्मके प्रचारमें तल्लीन थे और यहां वहां शासकोंको प्रभावित करनेमें सफल होते थे। जैन दिगम्बरत्वको भी अपना महत्व प्राप्त न रहा। क्योंकि उसका स्थान वस्त्रधारी भट्टारकोंने ले लिया। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि दिगम्बर मुनियोंकी मान्यतामें कोई अन्तर पड़ा था, वे तब भी पहले ही जैसी पूज्य दृष्टिसे देखे जाते थे। उनमें साधुवेषी उदरपोषक साधुओंका अभाव नहीं था किन्तु उन साधुवेषियोंकी खूब भर्त्सना की जाती थी—शिलालेखोंमें भी उनका उल्लेख हुआ मिलता है। सारांशतः जैन संघमें इस समय यह परिवर्तन हुए थे।

१-जैन० पृ० १६३-१६६

मागधी जो अमर म था पवकाली थी, प्राचीन अपभ्रंशका परिवर्तित रूप अर्थात् पुरानी हिन्दी हो सकती है।

संस्कृत भाषा—साहित्य।

द्राविड़ भाषाओंके समक्ष ही संस्कृत भाषाओंके जैन साहित्यका केन्द्र दक्षिण भारतकी ओर बढ़ गया था किन्तु विजयनगर सम्राटोंने संस्कृत भाषाको अपनाया था यद्यपि उनकी मातृभाषा तेलुगू थी। संस्कृत तब भी देशभाषी थकाली थी। तब भाषाका वह सुभाषित कि 'प्रायेण दक्षिणे देशे शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते' चरितार्थ हो रहा था। विजयनगरके सम्राटों सामन्तों और सेनापतियों जिनमें जैन भी उल्लेखनीय थे ने अपने बाहुबलसे देशको सुरक्षित बना दिया था और इस शांतिपूर्ण घड़ियोंमें विद्वज्जन साहित्य वृद्धि करनेमें तल्लीन हुए थे। सायणका वेदोंका भाष्य इसी समय लिखा था। संस्कृतके इस उत्कर्षमें हाथ बंटानेके लिये जैन विद्वान् पीछे न रहे। कर्णाटकी होते हुए भी वे संस्कृत भाषाकी रचनाओंमें मग्न हुए थे। कलाकारोंमें श्री सोमप्रभाचार्य, श्री हेमचन्द्राचार्य प्रभृति प्रमुख जैन विद्वानोंने संस्कृत साहित्यकी श्रीवृद्धि की थी। श्री सोमप्रभाचार्यने 'शृंगार-काव्य' रचकर लोगोंको आश्चर्यमें डाल दिया था जिसके एक ही श्लोकके सौ अर्थ होते थे। इनिवास कवियोंमें श्री श्रीरमनन्दि आचार्य उल्लेखनीय हैं। इनका 'चन्द्रप्रभचरित्र' संस्कृत साहित्यकी अनूठी रचना है। श्री वादिराजका 'एकीभावस्तोत्र' जिनेन्द्र स्तुतिकी अनुपम भक्ति रचना है। इनकी अन्य रचनाओंमें तीर्थंकरोंव, यशस्तीलकविजय और ______ विजय भी उनके आते हैं। पार्श्वनाथ चरित्र के रचयिता

था। उनकी राजगुरु, मूलसंघाचार्य महावादवादीश्वर उपाधियाँ उनकी विद्वत्ता और महत्ताको स्पष्ट करती हैं। वह श्रवणबेलगोलके मठाधीश थे। इन्होंने अपनी यह रचना गर्भपट्टके राजकुमार देवरायके अनुरोधसे शक संवत् १३२१ के लगभग रची थी। 'प्रमेयरत्नमालालंकार', 'पार्श्वाभ्युदयटीका' आदि कई टीका ग्रंथ भी इन्होंने रचे थे।

कविवर विजयवर्णीका 'शृंगारार्णव चंद्रिका' नामक अलंकार शास्त्र भी इस समयकी उल्लेखनीय रचना है। इसको इन्होंने सन् १२६४ के लगभग कामराय जैन नरेशकी प्रार्थनापर रचा था। इस प्रकार अनेक अन्य जैन विद्वानोंने संस्कृत साहित्यको अपनी सत्कृतियोंसे समलंकृत किया था जिनका इतिहास लिखा जाना वांछनीय है।

कन्नड़—साहित्य और जैन कविगण।

विजयनगर सम्राटोंके शासन कालमें भी कन्नड़ साहित्यको स-बल बनानेमें जैन कवियोंने उल्लेखनीय भाग लिया था। जैनधर्म और कला साहित्यके अतिरिक्त इन्होंने सर्वसाधारणोपयोगी साहित्यकी भी रचना की थी। किंतु विजयनगर साम्राज्योंमें स्मार्त और पौराणिक हिन्दू धर्मका प्राबल्य होनेके कारण जैन कविगण उससे अछूते नहीं रहे थे। जो बातें जैनधर्मके अन्दर नहीं मिलती थीं उनको भी इस समय वैसे ही अपनाया गया जैसे कि आजकल कुछ नए जैनकवि शृंगाररसकी गंध अपनी रचनाओंमें कूटकर भर देते हैं। यह समयका प्रभाव है। विरले ही अपनेको इस प्रभावसे सुरक्षित रख पाते हैं। देवराय (सन १११७) स्वयं जैन थे। उनके पुत्र मल्लिकार्जुन

१—जैनी वे ११५८१ २—वही, पृ ७८

मंदिरोंको भी किये हुए था। इस मगाके द्वारमें ही 'पार्श्वनाथ बस्ति' नामक सुन्दर मंदिर था, जिसके गर्भगृह, सुखनासि, नवरंग और पाक और चौकोर स्तभों सहित नवरंग और मुख मंडप दर्शनीय थे। यह सन् १० से पूर्वकी कृति थी। गर्भगृहमें एक फुट ऊंची श्याम पाषाणकी जिनमूर्ति विराजमान है। नवरंगमें तीर्थंकर पार्श्वकी तीन मूर्तियां हैं। ऊसी भागमें भी जिनमूर्ति है। नीचेके भागमें एक मुनि-पति महाराजकी आकृति बनी हुई है जो एक रानीको उपदेश कह रहे हैं रानीपर उसकी परिचारिका चमर ढाल रही है। यह कलामय रचना है। यह मंदिर मिझुगोड निवासी विजयनारायण शांतिसेट्टिके वसव मासिसेट्टिकी स्मृतिमें बनाया गया थे।

(४) अङ्गडिमें कई जिनमंदिर दर्शनीय हैं जिनमें नेमिनाथ बस्तीका तोरण एक सुन्दर कलाकृति है जो बस्तिहल्लीके आदिनाथ मंदिरके तोरणके समान है। यहां सिंहयाळ और पशु-पक्षियोंकी मूर्तियां भी कलामय बनी हुई हैं।

(५) मेलिगे नामक छोटेसे ग्राममें जो तीर्थहल्लीसे के मील दूर दक्षिण पूर्वमें है, अनन्तनाथस्वामी नामक जिनमंदिर दर्शनीय है। यह मंदिर सन् १६ ८ में पुन बनाया गया था। भागार्धम बहुत ही सुन्दर कलामय कृति है। इसके ऊपर बनी हुई चित्रित कलाभिराम हैसल स्टैलमें इसके जोड़का दूसरा कोई भी प्राचीन दर्शन नहीं है। यह

-ASM 93 P 5

मंदिर पोम्मनसेट्टिने बनवाया था, जिनकी मूर्ति भी बनी हुई है।[3]

(६) हुम्मुचा अथवा त्रिजयनाथपुर भी दक्षिणभारतमें प्रमुख जैन केन्द्र था। इसे जिनदत्तरायने बसाया था। यहांकी पार्श्वनाथ बस्ती और पद्मावती बस्ती नामक प्राचीन मंदिर पुन १६ वीं शताब्दीमें ग्रेनाइट (Granite) पाषाणके केर्नाद्रि-शैलीके बने हुये सुन्दर हैं। 'पंचकूटबस्ती' मंदिर इनसे प्राचीन द्राविड शैलीका है, जिसको सन् १०७७ में चत्तलदेवीने बनवाया था। उसका नामकरण 'उर्वी तिलक अर्थात् पृथ्वीका गौरव (Glory of the world) उसकी महानता स्वयं प्रगट करता है। किंतु इस समय इस मंदिरका सुन्दर मानस्थंभ, तोरणद्वार, विशालकाय द्वारपाल और कतिपय जिनेन्द्र मूर्तियां ही शेष हैं। इस मंदिरका पुन जीर्णोद्धार हो चुका है। पर्वतपर भी जैन कलाकी वस्तुयें हैं।[1]

(७) कम्बदहल्लीकी पंचकूटबस्ती एवं अन्य जैन मंदिर भी उल्लेखनीय हैं। वहांका मानस्थंभ बहुत ही सुन्दर कलामय है। यह पश्चिमको झुका है और गांवका नाम भी इस स्थंभकी अपेक्षा कम्बदहल्ली पड़ा है। (The pillar is one of the elegant in the state and has given the village its name. ASM,—1939, p 10)

शांतिनाथ बस्तीका तक्षण कार्य होय्सल कलाका अद्वितीय

3-Ibid, 1936 pp 38-39 "The finest architectural piece in the temple is the Manasthambha in front best old pillar in the Mysore state."

1-ASM 1929, पृ० ६ व १९३४, पृ० १७७-१७८.

जैनधर्मके पतनके कारण।

दक्षिण भारतके निर्माणमें जैनोंका हाथ ईस्वी १२ वीं शताब्दि तक सर्वोपरि था। देशका शासन, वाणिज्य, सामाजिक नेतृत्व और साहित्य एवं कला जैनोंके ही आधीन होरहे थे। किन्तु होयसल नरेश विष्णुवर्द्धनके वैष्णव हो जानेके पश्चात् जैनोंकी इस श्री वृद्धिको, काठ मार गया। उनकी आचार्य परम्परा विक्षुण्ण होगई जिसके कारण उनको राजआश्रयसे हाथ धोने पड़े। राजदरबारोंमें 'जैनं जयतु शासनं' सूत्रको जाज्वल्यमान बनानेवाले आचार्य अब दिखाई ही नहीं पड़ते थे। राजनीति संचालन और देशके भाग्य निर्माणमें अब वे पूर्ववत नेतृत्व करनेके लिये क्षीणशक्ति होगये थे। 'राष्ट्रीय प्रगतिमें स्वस्थ्य भाग लिये बिना कोई भी संस्था या संघ आगे नहीं बढ़कर शक्तिशाली नहीं हो सकता', इस सत्यको विजयनगर कालके जैन भूले नहीं थे, परन्तु वे आन्तरिक प्रपंचों एवं बाह्य आक्रमणोंके कारण ऐसे जर्जरित होगये थे कि कुछ भी नहीं कर सकते थे। विजयनगर शासनकालमें भी जैनोंमें यद्यपि वादी विद्यानन्द उत्पन्न हुये और उन्होंने 'जैनं जयतु शासनं' सूत्रको चमत्कृत करनेके लिये कुछ उठा न रक्खा, परन्तु पाठक जानते हैं कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ता। फिर भी उनके सद्प्रयत्नोंसे जैनधर्म कहीं२ और कभी२ राजाश्रय पानेमें सफल हुआ और जनतामें उसकी मान्यता विलुप्त नहीं हुई।

जैनोंके इस पतनके कारण, अन्तरङ्गमें उनका परस्पर असंगठित होजाना था। क्योंकि उनमें दिगम्बर आचार्य–परम्पराका अभाव हो-

मानके कारण एवं मध्यकालमें जैन मंदिरोंमें बहु संपत्ति संचित हो जानेके कारण काफी त्रस्त हो गई थी। उधर वर्णाश्रमी हिंदूधर्मका प्रभावस्वरूप प्रभाव भी इनपर पड़ा। मध्यकालमें बहुतसे ब्राह्मण और अन्य हिन्दू जैनधर्ममें दीक्षित कर लिये गये थे-जैन हो जानेपर भी वे अपने वैदिक संस्कारोंको भुला न सके। जैनोंमें भी जाति-भेद पोषक ऊंच नीचपनका भाव लोगोंमें घर कर गया। ब्राह्मण कि जैन ब्राह्मण अपनेको सर्वश्रेष्ठ मानते और जिनेन्द्र अभिषेक और पूजाका अधिकार उन्होंने अपने आधीन कर लिया। ब्राह्मण पुरोहितोंकी तरह ही जैन उपाध्याय पुरोहितका काम करने लगे। उधर दिगम्बर जैनाचार्योंका स्थान भट्टारकोंने ले लिया। उसमें भी ऊंच-नीचका दुर्भाव जागृत होगया। यह संभवतः भिन्न २ जातियोंके गुरु होनेका कारण था। यह ऊंच नीचका दुर्भाव मध्ययुगमें कुछ बढ़ा, पंचम चतुर्थ सैंट आदि जातियोंके लोगोंको जैनधर्ममें दीक्षित कर लेनेके कारण अस्तित्वमें आया था। उदाहरणतः यह पंचम आदि जाति हिंदुओंमें आज भी शूद्र माने जाते हैं किंतु जैनोंमें उनका सामाजिक पद उच्च है। जन्मगत वह अपनेको इनसे श्रेष्ठ मानते थे अतः इनके गुरु भट्टारक भी सैंट जातिके गुरुओंसे अपनेको श्रेष्ठ मानते थे।

इन भट्टारक-गुरुओंने अपने २ क्षेत्रमें मनमाना शासनाधिकार जमा रक्खा था। अनूठी रीति रिवाज चालू कर रक्खे थे जिनके कारण जैन न केवल छिन्न भिन्न ही हुये बल्कि जैनधर्मके मूल सिद्धान्तको भी विस्मृत कर बैठे। अपने पड़ोसी हिन्दुओंकी तरह ही वे भी अपने संगठनके लिये इन भट्टारकों और आचार्योंकी मान्यताओंमें बंध गये

और अपने २ मंदिर भी अलग २ बना बैठे। यहां तक कि श्रावक होते हुये भी एक दूसरके यहां भोजन नहीं करते थे। वे अनेक छोटी छोटी उपजातियोंमें बट गये। उनके अपने न्यारे न्यारे गुरु थे। ऐसे गुरु जो अपनको दूसरेसे बड़ा मानते थे, अन्तरंगकी इस दुरवस्थाने उनको संघ भावनासे विमुख कर दिया और आगे चलकर जैन संघका अभाव हो गया, उधर जैनोंपर बाहरसे भी आक्रमण हुये। जैनोंकी अंतरंग कलहने उनकी विद्या और कलाको भी हीन बना दिया— उधर वैष्णावों और शैवोंको अवसर मिला। उनमें रामानुज, माधवाचार्य सदृश प्रभावशाली गुरु हुये जिन्होंने जैनोंके विरुद्ध आन्दोलन मचा दिया। अनेक जैन कोल्हूमें पेल दिये गये। आज भी दक्षिणके हिन्दुओंमें एक त्योहार इस घटनाको जीवित बनाये रखनेके लिये मनाया जाता है। अनेक जैन, वैष्णव और लिंगायत होगये एवं कई जैन मंदिर शैव मंदिर अथवा मस्जिद बना लिये गये। इस विषम स्थितिमें अपनेको जीवित रखनेक लिये जैनोंने अपने पड़ोसी वैष्णवादि हिन्दुओंकी रीति नीतिको अपना लिया। जहां पहले जैनधर्मका प्रभाव वैष्णवों पर पड़ा था, वहां अब वर्णाश्रमी हिन्दू धर्मने जैनोंको अपने रंगमें रंग लिया। इतिह[illegible] [illegible]नेको दुहराता जो है। जैन अपनेको जागृत और शक्तिशाल[illegible] [illegible] ऐसे ही कारणोंसे असफल हुये